आचारप्रबन्ध।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(मनुः)

प्रणेता

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्यायजी सी० आई० ई०

अनुवादक

पं० रूपनारायण पाण्डेय

श्रीकाशीधाम।

सं० १९६७ वै०

मूल्य १)

BENARES

PRINTED BY A. C. CHAKRAVARTY AT THE MAHAMANDAL SHASTRA PRAKASHAK SAMITI, LD. PRESS, AND PUBLISHED BY BATUK DEV MOOKERJEA, M[illegible] ASIDHAM, BENARES CITY.

श्रीमान् क्षेत्रमोहन वन्धोपाध्याय।

„ अनादिनाथ „

„ बटुकदेव मुखोपाध्याय।

„ रामदेव „

„ अनन्तनाथ वन्धोपाध्याय।

„ भवदेव मुखोपाध्याय।

„ गणदेव „

„ कुमारदेव „

„ सोमदेव „

„ सनत्कुमार चट्टोपाध्याय।

श्रीमानो!

तुम कोई मेरे पौत्र और कोई दौहित्र हो, परम स्नेहके पात्र हो। हमारे देशके परम पवित्र सदाचारका पालन इस लोक और परलोकके लिये कैसा हितकारी है—इसका ज्ञान हमारे देशमें कम होता जाता है। विदेशी शिक्षाकी प्रबलता एवं ज्ञान-भक्तियुक्त शास्त्रशिक्षाका अभाव ही इसका कारण है। मैंने तुम्हारे ही पूर्वपुरुषोंमें शास्त्रज्ञान और सदाचारपालनका उज्ज्वल दृष्टान्त देखा है। वही तुम्हारा पैतृक धन तुमलोगोंमें अविकृत रूपसे बना रहे—यही मेरी अभिलाषा है। तुम और तुम्हारे ही समान स्वदेशवासी युवक और बालकोंको आचारकी शिक्षा प्राप्त करनेमें सुभीता हो और तुमलोग स्वजातीय परम पवित्र शास्त्रका महत्त्व समझ सको—इसी लिये मैंने यह आचारप्रबन्ध लिखा है। अन्तमें तुमलोगोंको आशीर्वाद देता हूँ।

चूँचुड़ा
१४ फ़र्वरी १८९४ ई०

शुभाकाङ्क्षी,
भूदेव मुखोपाध्याय।

इस पुस्तककी रचनामें नीचे लिखे ग्रंथोंसे सहायता ली गई है-

१ । व्रतराज (दाक्षिणात्य विश्वनाथ-दैवज्ञकृत) ।

२ । हेमाद्रि (एशियाटिक सोसाइटीका छपा) ।

३ । रणवीरव्रतरत्नाकर (कश्मीरका) ।

४ । निर्णयसिन्धु ।

५ । धर्मसिन्धु ।

६ । वार्षिकपूजाकथासंग्रह (मैथिल रामचन्द्रकृत) ।

७ । रघुनन्दन ।

८ । भवदेव ।

९ । गोभिलगृह्यसूत्र ।

१० । गुणविष्णु ।

११ । मन्त्रब्राह्मण ।

१२ । व्रतमाला ।

१३ । सर्वसत्कर्मपद्धति ।

१४ । गुजरात, कश्मीर, तैलंग और काशीके पञ्चाङ्ग ।

१५ । काशीमें भिन्न २ अनेक पण्डितोंकी सहायतासे प्रस्तुत तालिका ।

१६ । ब्राह्मणसर्वस्व ।

निवेदन ।

प्रिय पाठकगण ।

श्रीमान् भूदेवमुखोपाध्यायजी बंगदेशके एक समाजहितैषी आदर्शचरित्र धर्मनिष्ठ लब्धप्रतिष्ठ लेखक थे । वह कई प्रबन्ध और ग्रन्थ लिख कर अपने देशका—समाजका—धर्मका बहुत कुछ उपकार कर गये हैं, इसी कारण आज दिन उनका नाम बंगदेशमें अमर और प्रातःस्मरणीय हो रहा है । उनकी लिखी पुस्तकें बंगालमें घर २ मौजूद हैं । इसके अतिरिक्त वह हिन्दीके भी बड़े भारी हितैषी थे । बांकीपुर, बिहारमें उन्होंने एक बुधोदय नाम प्रेस स्थापित किया था जो इस समय खड्गविलास प्रेसके नामसे प्रसिद्ध है और हिन्दीकी अच्छी सेवा कर रहा है । उन्होंने बिहार प्रान्तकी अदालतोंमें हिन्दीप्रचारके लिये महान् उद्योग किया था । बिहारके छात्रोंके लिये हिन्दीकी उत्तम पाठ्यपुस्तकोंका बनना भी उनके ही प्रबल प्रयत्नका फल है ।

यह आचारप्रबन्ध उनका लिखा हुआ एक अत्यन्त उपादेय प्रबन्ध है । हिन्दीमें ऐसा सदाचारसम्बन्धी सुन्दर संग्रह ग्रन्थ आजतक मैंने नहीं देखा । इसी लिये इस बँगला ग्रन्थका भाषान्तर लेकर आपलोगोंकी सेवामें समुपस्थित हुआ हूँ । आशा है आप इस उपहारको सादर स्वीकार करेंगे ।

यदि आप लोग इस उपहारसे प्रसन्न होंगे, यदि इस पुस्तकसे देशका—समाजका—धर्मका कुछ भी उपकार होगा तो मैं अपने अहोभाग्य समझूँगा और बहुत ही शीघ्र स्वर्गीय भूदेव बाबूके पारिवारिकप्रबन्ध नामक पुस्तकका हिन्दी भाषान्तर लेकर आपकी सेवामें उपस्थित हो सकूँगा । इस बार कई अनिवार्य कारणोंसे मूललेखकका चित्र और चरित्र नहीं दिया जा सका । हो सका तो पारिवारिक प्रबन्धमें चित्र चरित्र देनेका प्रबन्ध किया जायगा ।

श्रीकाशीधाम
वसन्तपञ्चमी १९६७ ।

विनीत—
रूपनारायण पाण्डेय ।

विषयसूची ।

आचार-प्रबन्ध।

उपक्रमणिका।

'धर्म्मोऽस्य मूलम्'

सदाचार का मूल धर्म्म है। शास्त्रोक्तविधि का प्रतिपालन ही धर्म्म है। आजकल के समय में विधि के पालन में बाधा करनेवाली पांच बातें देख पड़ती हैं:—

(१) विधि को न जानना।

(२) विधि पर अश्रद्धा।

(३) विजातीय अनुकरण की अत्यन्त अधिकता।

(४) स्वेच्छाचारी होने की प्रबलता।

(५) स्वाभाविक आलस्य।

इस समय विचार कर देखने से जान पड़ता है कि हमारे समाज में येही पांच दोष बढ़ते जाते हैं। (१) ब्राह्मण पण्डित लोग वृत्ति-विहीन होकर अन्न की चिन्ता से अस्वस्थ हैं। वे पूर्ववत् मन लगाकर शास्त्र का पठन, पाठन नहीं कर सक्ते। इसी से वे और सर्व-साधारणजन शास्त्र की विधि से अनभिज्ञ होते जाते हैं। (२) विजातीय शिक्षा का प्रभाव बढ़ने के कारण शास्त्रीयविधि से श्रद्धा उठती चली जाती है। इस समय बालकपन से जो अङ्गरेजी विद्या की शिक्षा दी, दिलाई जाती है उसमें शास्त्र की विधि का कुछ भी उल्लेख नहीं रहता, वरन् साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से देशीय शास्त्रों पर अश्रद्धा ही प्रकाश पाती है। जिसका फल यह होता है कि शिक्षा के समय से ही लोगों के मन में शास्त्र कथित आचार पर अविश्वास हो जाता है। (३) इस देश में शास्त्रोक्त आचार से हीन विजातीय लोगों के विभव को देखकर भी शास्त्राचार की प्रयोजनीयता का ज्ञान घट जाता है एवं ये वैभवशाली विजातीय लोग कैसे सब बातों में बढ़े हैं, सो न विचार कर मोहवश देश के लोग अपने शास्त्र के विरुद्ध व्यवहारों के अनुकरण में प्रवृत्त होते हैं।

शास्त्राचार का लोप होने के ऊपर कहे गये तीनों कारण ही आगन्तुक हैं। ये पहले पहल इतने सबल न थे, इस समय प्रबल हो

उठे हैं । इनको मिटाना अति कठिन होने पर भी निपट असाध्य नहीं जान पड़ता । (१) यदि शास्त्रोक्त विधियों के जानने की हार्दिक अभिलाषा हो तो उन्हें जाना जासक्ता है । इस समय भी देश में शास्त्र के जाननेवाले बहुत हैं, इस समय भी देश में बहुत से लोग शास्त्रीयविधि का पालन करते हुए चलने की चेष्टा करते हैं और यथाशक्ति पालन भी करते हैं । (२) विजातीय विकृत शिक्षा का दोष भी छात्रों की किशोर और युवा अवस्था में ही अत्यन्त प्रबल होता है । वयोवृद्ध और चिन्ताशील लोगों में यह दोष बहुत कम देखा जाता है । एवं जिस विजातीय शिक्षा के दोष से शास्त्राचार पर अश्रद्धा उपजती है उसी विजातीय शिक्षा में विशेष व्युत्पत्ति हो जाने पर भी यह दोष बहुत कुछ घट जा सक्ता है । जैसे मलिन वस्तु (राख मिट्टी आदि) द्वारा बल पूर्वक घिसने से धातुओं की पहले की मलिनता दूर हो जाती है वैसे ही जो विजातीय शिक्षा आचार मलिनता का कारण हो रही है उसी के भली भांति अनुशीलन से आचार मलिनता दूर होना सम्भव है । यूरोपखण्ड की विज्ञान विद्या के अधिक अनुशीलन से स्वदेश के शास्त्राचार की सारवत्ता, अधिकांश युक्तियों से भी भलीभांति परिस्फुट हो उठती है । पहले देश के युवक जैसे अङ्गरेजी पढ़कर अनर्गल बातें बकते थे और मनमाना व्यवहार करते थे, इस समय के अङ्गरेजी शिक्षा पाये लोगों में प्रायः किसी को वैसा उन्माद नहीं होता । (३) जो अङ्गरेज जाति इस समय भारतवर्ष में प्रधानता को प्राप्त हुई है, उसकी इस प्रबलता का यथार्थ कारण क्या है, सो भलीभांति समझने की चेष्टा करने से देख पड़ता है कि इस प्रधानता का कारण अनाचार या अत्याचार नहीं है । इसका कारण उनके स्वदेश और स्वधर्म्म के उपयोगी आचार की रक्षा से शरीर की दृढ़ता, मन की निपुणता और परस्पर सहानुभूति है। हमारे भी शास्त्रोक्त आचारों का उद्देश्य विचारने से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि शास्त्राचार के पालन से शरीर सार सम्पन्न, तेजस्वी और सक्षम होता है एवं मन में उदारता और सात्त्विकता की वृद्धि होती है । इस कारण शास्त्रोक्त आचार की रक्षा से ही इस देशके लोग अङ्गरेजों

से भी बढ़कर उन्नततम गुणों के अधिकारी होसक्ते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अब लोगों का मन क्रमशः उक्त सत्य की ओर जा रहा है एवं लोग समझने लगे हैं कि अङ्गरेजों का अयथा अनुकरण इसदेश के लिये अनिष्टकारी और नीच प्रकृति का लक्षण है। इस समय अंगरेजी बात चीत करने, पेंटलुन और हैट पहरने, टेबुल पर बैठकर भोजन करने की लालसाएं बहुत कम होगई हैं। ये सब लालसाएं जैसी हिंदूकालिज के प्रथम छात्रों के दल में थीं वैसी विश्वविद्यालय के बी० ए०, एम० ए० पास व्यक्तियों में भी अब नहीं हैं। बिलायत से लौटे हुए लोगों में ये सब अभिलाषाएं एवं बीबी को साथ लेकर हवा खाने जाने की नई इच्छा इस समय बढ़ गई हैं किन्तु धर्म्मसंस्कार की साथ नहीं है—ऐसा ही कहना चाहिये। जान पड़ता है, उन लोगों की संख्या और कुछ बढ़ने से इस प्रकार की सब लालसाएं मिट जायँगी।

इसी से शास्त्राचार के लोप के जो तीन आगन्तुक कारण इस समय प्रबल हो उठे हैं उन तीनों कारणों की प्रबलता आपही शान्त हो सक्ती है।

किन्तु मनुष्य हृदय के जिन दो स्वाभाविक दोषों के निवारण के लिये शास्त्राचार की सृष्टि हुई है वे दोष केवल काल पाकर अथवा अन्य किसी उपाय से निवृत्त होने के नहीं हैं, उन दोनों दोषों का निवारण एकमात्र शास्त्राचार के ही अवलम्बन से सिद्ध होसक्ता है।

मनुष्य में पशु धर्म्म और जड़धर्म्म दोनों हैं। पशुधर्म्म से स्वेच्छाचार की उत्पत्ति होती है। जिस समय जो करने की इच्छा हो उसी समय वह करने में प्रवृत्ति होना और उसका फलाफल न विचारना, पशु का धर्म्म है। इस पशुभाव को घटाना हमारे शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। शास्त्र का अभिप्राय है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की स्थिरता, मनोयोग की दृढ़ता, चित्त की स्वच्छता और शरीर की स्वस्थता बढ़ाता हुआ सब कार्य्य करे। खाने की सामग्री देखते ही खानेलगे, सोने की इच्छा होते ही सो रहे, क्रोध की आग भड़कते ही तदनुसार काम करडाला; इस प्रकार का यथेच्छ व्यवहार आर्य्यशास्त्र में निन्दित कहा गया है। शास्त्राचार को भलीभांति

पालने के अतिरिक्त और किसी प्रकार इन दोषों का निवारण पूर्ण-तया नहीं सिद्ध होता । शास्त्राचार के पालन से ही सत्वगुण की वृद्धि और पूर्वोक्त रजोगुणजनित दोषों का परिहार हो सक्ता है ।

मनुष्य में जो जड़धर्म्म है उसका अत्यन्त सुस्पष्ट लक्षण आलस्य है । शास्त्राचार आलस्य को नष्ट करता है । शास्त्र ने सम्पूर्ण जीवन काल के उपयोगी विशेष २ कार्य्यों का अलग २ निर्देश कर दिया है, इस कारण शास्त्राचार परायण के लिये जड़ता प्राप्ति का अवसर नहीं रहता । और शास्त्र के निर्दिष्ट कार्य्य ऐसे हैं कि उनके यथोचित पालन से शरीर में बल और तेज की वृद्धि होती है । शास्त्र एक घड़ी के लिये भी हम को अलसभाव से बैठने नहीं देता । यथोचित समय में एवं यथायोग्य अवस्था में हमारे आहार, विहार, निद्रा आदि की व्यवस्था करना है । लोभ, सुख की इच्छा अथवा आलस्य के वशीभूत होकर कुछ नहीं करने देता ।

शास्त्राचार के इस जड़तानाशक गुण पर वैसा लक्ष्य न कर इसके स्वेच्छाचार को रोकने पर अत्यन्त अधिक दृष्टि डाली जाती है; इसी कारण दो आपत्तियां उठाई जाती हैं—

कोई कहता है कि शास्त्राचार सब प्रवृत्तियों के मार्ग को एक दम रोक देता है, मनुष्य के जीवन में कुछ भी तेज [illegible] नहीं रहने देता, मनुष्य को निपट निर्जीव बना देता है । [illegible] व्यक्ति नीचे लिखे हुए कई एक श्लोक सुन रहे ।—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रगृहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तः भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसासदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वाइव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥

अर्थात् आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को मुख-रज्जु (लगाम) और इन्द्रियों को घोड़े जानो । ये घोड़े विषय भोग की ओर दौड़ते हैं । ज्ञानी लोग कहते हैं कि इन्द्रिय समूह और मन से युक्त आत्मा विषय भोग करता है । जो ज्ञानहीन है जिसका मन अयुक्त है उसकी इन्द्रियां जैसे दुष्ट घोड़े सारथी के वश में नहीं रहते वैसे ही वश में नहीं रहतीं । जो सुबोध है, जिसका मन स्थिर है उसकी इन्द्रियां जैसे सुशील घोड़े सारथी के वश में रहते हैं वैसे ही वश में रहती हैं ।

उन सुननेवाले महोदय ने इन श्लोकों को सुनकर कहा कि घोड़े यदि दुष्ट हों तो उन्हें मनरूप लगाम से रोक रखना होता है, किन्तु यदि घोड़े ऐसे दुर्बल होजायँ कि उनमें चलने की भी शक्ति न रहे तो क्या करना होगा, सो तो कहा नहीं गया ।

शास्त्राचार के सम्बन्ध में इस प्रकार का एक भ्रम कभी कभी हो जाता है । उसका एक कारण शास्त्राचार के जड़ता बाधक एवं तेजस्विता साधक गुण पर लक्ष्य न करना है और दूसरा कारण शास्त्राचार में गृहस्थ के कर्त्तव्य और वानप्रस्थ के कर्त्तव्य में जो विभेद है उसका विचार न करना है । गृहस्थ के लिये शरीर को क्षीण करना या पीड़ा पहुंचाना शास्त्र में निषिद्ध है । पहले समय के लोग बहुत अधिक शास्त्राचार का पालन करते थे । उनका आहार अधिक था, बल अधिक एवं आयु अधिक थी । उनकी इन्द्रियां इस समय के शास्त्राचार विहीन अल्प पुरुषों की इन्द्रियों के समान बलहीन और अकर्म्मण्य नहीं होती थीं ।

और कोई २ कहते हैं कि शास्त्रोक्त सब विधियों ने हमें भाँति भाँति के बंधनों में जकड़ डाला है । उन्होंने एकदम हमारी स्वाधीनता को लुप्त कर दिया है । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि शास्त्राचार स्वाधीनता को नहीं नष्ट करता । उसके द्वारा जड़ता के घटने से यथार्थ स्वाधीनता की वृद्धि होती है । इस विषय में एक साधारण दृष्टान्त दिया जाता है । शीतकाल में जब प्रातःकाल आंख खुलती है उस समय बहुत से लोग पलँग छोड़कर उठ नहीं सक्ते, जब घाम चढ़ जाती

है तब उठते हैं । तबतक बिछौने में लेटे २ या बैठे बैठे तमाखू या चाय पीते रहते हैं । उनके शरीर में सारे दिन के लिये एक प्रकार की जड़ता बस जाती है । किन्तु जो लोग शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आंख खुलते ही ईश्वर का स्मरण कर पलँग छोड़ देते हैं एवं यथाविधि स्नान आदि प्रातःकाल के कृत्य करते हैं उन्हें जाड़े का डर नहीं रहता, शरीर की जड़ता जाती रहती है, एक प्रकार की सजीवता और कार्य-क्षमता की स्फूर्त्ति होती है और सारा दिन सुख व स्वच्छन्दता से बीतता है । उक्त दोनों प्रकार के लोगों में कौन स्वाधीन हैं —जो लोग शीतभीत हैं वे, वा जो प्रातःकाल स्नान करलेते हैं वे ?

विशेष विचार पूर्वक देखने से पृथ्वी भर में कहीं सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं देख पड़ती। मनुष्य भी साधारण प्रवृत्ति के वा विधि व्यवस्था के वश में रहता है । इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से अविचारित प्रवृत्ति के वशवर्त्ती होने की अपेक्षा विचारित विधि के वशवर्त्ती होना ही उत्तम है ।

उपनिषद् में यही बात सुदृढ़रूप से रूपकालंकार में कही गई है। "देवासुराःसंयतिरे"—अर्थात् देवता और असुरों ने युद्ध किया । इस पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्रोद्भासित इन्द्रियां देवता हैं और स्वाभाविक वा तामसी इन्द्रियां असुर हैं । यह मनुष्य शरीर ही उनके युद्ध की भूमि है । इन्द्रियवृत्ति का तमोगुण निर्जित होने से देवताओं की जय होती है अर्थात् शास्त्राचार का फल होता है। इसी कारण शास्त्राचार ही धर्म्म का मूल है ।

"आयुः प्रकाण्डः"

सदाचाररूप वृक्ष का प्रकाण्ड वा पेड़ी आयु है । अर्थात् सदाचार पालन से मनुष्य की आयु दृढ़ और बड़ी होती है । आयुष्मान् होने के प्रधानतम बारह लक्षण कहे जा सक्ते हैं ।

(१) पूर्व पुरुषों का, विशेषकर पिता माता का दीर्घजीवी होना ।

(२) अविकल अंगों में सम्पन्न शरीर लेकर जन्म ग्रहण करना।

(३) दुर्घटना का अभाव ।

(४) स्वास्थ्यकर आवास ।

(५) स्वास्थ्यकर आहार ।
(६) उपयोगी आवरण ।
(७) परिच्छन्नता ।
(८) मिताहार ।
(९) मिताचार ।
(१०) नियमों के अनुगामी रहना ।
(११) द्वन्द्वसहिष्णुता ।
(१२) मन की शान्ति ।

इन बारह में पहले के तीन तो किसी भी मनुष्य के अपने वश में नहीं हैं। (१) जन्म ग्रहण जीव की अपनी इच्छा के आधीन व्यापार नहीं है। जिन पूर्व पुरुषों की आयुदीर्घ है उन्हीं के द्वारा उत्पादित होंगे, इस प्रकार पिता माता का निर्वाचन कर कोई सन्तान नहीं जन्म ले सक्ता। (२) मैं दोष शून्य शरीर से जन्म लूंगा, विकलाङ्ग होकर न जन्मूंगा यह भी सन्तान की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है। (३) मेरे जीवनकाल में, विशेष कर शैशव में, कोई दुर्घटना उपस्थित होकर मुझको उद्विग्न नहीं करैगी, या विकलाङ्ग नहीं करैगी, अथवा सप्राण नष्ट नहीं करैगी; सो सब जान बूझकर प्रथमही से होनेवाली दुर्घटना का प्रतीकार करते रहना आपही मनुष्य शक्ति से अतीत है। वस्तुतः जीवन की रक्षा, बलाधान एवं विस्तृति के उल्लिखित तीन हेतुओं को प्राक्तन हेतु कहकर ग्रहण किया जा सक्ता है क्योंकि ये पुरुष शक्ति के सम्पूर्ण अनायत्त वा आधीन नहीं हैं।

किन्तु व्यक्ति विशेष के अनायत्त होने पर भी धारावाहिक पुरुष परम्परा के वैसे अनायत्त नहीं जान पड़ते। सभी पिता माता अपना अपना शरीर स्वस्थ, सबल एवं स्थायी करने के लिये कुछ एक उपायों का अवलम्बन कर सक्ते हैं एवं उनके अवलम्बित सब सत् उपाय समस्त परवर्ती पुरुषों के द्वारा परिगृहीत होकर प्रचलित होने से ही वंश में दीर्घजीविता की वृद्धि होसक्ती है। इसी प्रकार चेष्टा करनेसे वंशका अंग विकलता दोष भी निवृत्त किया जा सक्ता है। और पूर्व पुरुषों में एवं समाज में ज्ञान की वृद्धि और सहानुभूति की अधिकता होने

से भी दुर्घटना आदि दोषों का बहुत कुछ परिहार हो सक्ता है । अस्तु, बोधहीन एवं बर्व्वर लोगों में जितनी दुर्घटनाओं की अधिकता और मनुष्य व मनुष्यशिशुसमूह की अकाल मृत्यु होती है उतनी विद्या-बुद्धि सम्पन्न सुसभ्य लोगों में नहीं होती ।

अतएव निश्चित हुआ कि दीर्घजीवी होने के प्रथमोक्त तीन कारण यद्यपि किसी विशेष मनुष्य के वश में नहीं है, तथापि पुरुष परम्परा एवं पुरुष समष्टि के अवश्य कुछ आयत्त हैं । पुरुष परम्परा और पुरुषसमष्टि, इन दोनों का एक सम्मिलित नाम है 'समाज' । अतएव दीर्घजीविता के "प्राक्तन" तीनों हेतु कुछ कुछ समाज के आयत्त वा आधीन हैं । दीर्घजीविता के प्रथम तीन कारणों के परवर्त्ती द्वितीय हेतुत्रय भी शैशव में किसी व्यक्ति के अपने आयत्त नहीं होसक्ते । शिशु स्वयं समझ कर चेष्टा कर अपने लिये स्वास्थ्यकर आवास, आहार और आवरण का संग्रह नहीं कर सक्ता । अथच यदि शैशव से इन सब विषयों में त्रुटि होती है तो शरीर के दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी होने का सूत्रपात होता है । पिता माता बालक को जैसे घर में रखते हैं, जैसा आहार और वस्त्र देते हैं एवं देश का भाव जैसा पवित्र या दूषित होता है, बाल्यावस्था में शरीर का भाव भी तदनुयायी होता है । यदि बाल्यकाल के अभिभावक (रक्षणावेक्षण करनेवाले) लोग स्वास्थ्य रक्षा के उपायों से अभिज्ञ एवं उन उपायों के अवलम्बन में सक्षम होते हैं, और यदि सामाजिक शासन के प्रभाव से देश पवित्र एवं संक्रामक रोगों से परिशून्य होता है तो शिशु नीरोग रहकर वृद्धि को प्राप्त होता है, नहीं तो अकाल में काल का कवल हो जाता है वा रोगग्रस्त शरीर से कुछ दिन जीवित रहता है । अतएव इन तीनों विषयों में भी मनुष्य की दीर्घजीविता पुरुष परम्परा एवं पुरुष समष्टि अर्थात् समाज के आयत्ताधीन है ।

चिरायु होने के शेष छः हेतुओं का बल मनुष्यों की वयःप्राप्ति के साथ साथ विशेष कार्य्य करनेवाला होता है । इन में प्राक्तन अथवा पूर्वजन्म की शक्ति का प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत न्यून है एव पुरुषकार की शक्ति ही विशेषरूप से परिस्फुट है । परिच्छन्न (शरीर को ढँके) रहना

मिताहारी और मिताचारी होना, सब कार्यों में नियम के अनुगामी होकर चलना, अपने को क्रमशः शीतोष्ण, सुख दुःखादि द्वन्द्वसहिष्णु बनाना एवं मन को उद्वेगशून्य और शान्तिमय कर रखना - मनुष्य, इन कामों को अपने लिये आपही बहुत कुछ कर सक्ता है ।

किन्तु इन सब कार्यों में पुरुषकार की प्रधानता है, ऐसा कहने से यह न समझ लेना चाहिये कि ये कार्य्य एकमात्र पुरुषकार के ही आधीन हैं, प्राक्तन वा पूर्वजन्म की शक्ति के निपट निरपेक्ष हैं। पहले इन सब विषयों में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन है और वह ज्ञान अन्य किसी से प्राप्त होता है, एवं दूसरे प्राप्त ज्ञान का अप्रमाद, स्मरण एवं प्रयोग भी कुछ २ प्राक्तनशक्तिमत्ता और कुछ २ दूसरे का दृष्टान्त देखने की अपेक्षा रखते हैं ।

अतएव आयुष्मान् होने के जिन बारह विभिन्न हेतुओं का निर्देश किया जाता है वे त्रिविध हैं । प्राक्तन, सामाजिक एवं पौरुष । ये त्रिविधशक्तियां इस प्रकार परस्पर संश्लिष्ट हैं कि पहली को छोड़कर दूसरी की गति नहीं है एवं दोनों को छोड़कर तीसरी की भी गति नहीं होसक्ती ।

हमारी शास्त्रोपदिष्ट आचारद्धति इन तीनों शक्तियों के अनुकूल व्यवस्थित है, अर्थात् सर्वदिग्दर्शी है । इसी कारण जिन लोगों ने केवल पाश्चात्य शास्त्रादि की एकमात्र पुरुषकार मूलक विचारप्रणाली को हृद्गत किया है एवं उसी प्रणाली से मिलाकर देशीय शास्त्रपद्धति के गुण दोषों का विचार करने में प्रवृत्त होते हैं उनकी दृष्टि में आचारकाण्ड की बहुत सी बातों के अप्रासंगिक अथवा उपधर्म्म मूलक होने का भ्रम होता है । वे शास्त्र विहित आचार को अमान्य कर अनेक प्रकारसे दोष भागी होते हैं । उनमें अनेकों ही स्वल्पायु हो पड़ते हैं ।

इन सब लोगों के लिये सदाचारविधि समझने की और एक बाधा भी आ पड़ती है । वह भी अज्ञताजनित है । मनुष्य के करने योग्य सब विषयों में ही प्रायः सम्भवितव्यता का विचार बहुत अधिक रहता है, अव्यभिचारी तथ्य की प्राप्ति अत्यन्त स्वल्पस्थलों से

ही होसक्ती है । मनुष्य को जो कुछ करणीय है उसमें क्या होना स-म्भव है और क्या असम्भव है ऐसा सोच विचार कर ही वह करना होता है । यही होता है, और यही करना होगा, इस प्रकार की दृढ़ उक्ति का प्रयोग बहुत ही थोड़े विषयों में हो सक्ता है । किन्तु विचार की प्रणाली ऐसी होने पर भी शिक्षाकार्य्य में सम्भवितव्यता की गणना द्वारा सन्दिग्धता का आभास देने से काम नहीं चलता । यदि शिक्षक सम्भवितव्यता की गणना करने लगता है तो छात्र के हृदय में शिक्षा-दृढ़ता घट जाती है एव सिद्धान्त या फलकी स्थिरता नहीं होती । इसी कारण आदि में सम्भवितव्यता के सूक्ष्म या पुंखानुपुंख विचार द्वारा जो अधिकतर सम्भवितव्य कहकर अवधारित होता है वही ध्रुव-सत्य कहकर सिखाया या सीखा जाता है । किसी व्यक्ति को ऊंची छत पर से नीचे कूदने के लिये उद्यत देखकर ' तुम मर जाओगे ' यही कहकर रोका जाता है । छत पर से कूदने में सब समय सब ही नहीं मर जाते तथापि देहकी गठन, गिरने का ढंग, नीचे के स्थान की अवस्था आदि को विचार कर " तुम्हारे मरने की सम्भावना अधिक है " ऐसा नहीं कहा जाता ।

शास्त्र भी शिक्षादाता हैं । वह भगवान् के न्याय का आदेश करते हैं । वे पूर्णमात्र प्रत्यभिज्ञान के फलों को कार्य्यकररूप से सुव्यक्त करने के लिये सुस्पष्ट 'विधि' अथवा 'निषेध' वाक्यों का प्रयोग करते हैं । विधि निषेध वाक्यों के प्रयोग के समय प्राक्तन और पुरुषकार भेद से विभिन्न व्यक्तियों के लिये किसी विशेष विषय में सम्भवितव्यता मात्र प्रदर्शित कर निश्चिन्त नहीं हो सक्ते ।

शास्त्रविधि के इस शिक्षादात्रृक प्रभुभाव के स्मरण रखने का विशेष प्रयोजन है । केवल इसी भाव का स्मरण न रहने से आजकल के अङ्गरेजी पढ़े लिखे लोग ही किसी २ स्थल में शास्त्रोक्ति की असफलता समझ कर उसके प्रति श्रद्धाहीन होते जाते हैं ऐसा नहीं है, किन्तु अत्यन्त पूर्व काल से, अत्यन्त प्रधान २ लोग भी इसी प्रकार श्रद्धाहीनता के दोष को प्राप्त हुए हैं । बुद्धदेव ने बहुकालपर्य्यन्त शास्त्रीयविधि के अनु-यायी तप किया है, उससे वाञ्छितफल न पाकर शास्त्रविद्वेषी हुए हैं । सुना गया है कि राममोहनराय ने भी अनेकानेक पुरश्चरण एवं जप

आदि मे कामना न सिद्ध होने पर शास्त्राचार का परित्याग किया था। जो हो, बुद्धदेव एवं राममोहन दोनों ही निःसन्देह अपने २ तप के अनुरूप फल को प्राप्त हुए हैं। वे अपनी २ की हुई तपस्या के द्वारा विशुद्ध और उन्नत हुए थे, इसी कारण अपने २ मतवाद के प्रचार में सक्षम हुए हैं। उन दोनों ने फलाभिसन्धान पूर्वक तप किया, इसी से उनकी तपस्या रजोगुणभावना से कलुषित होगई। इसी कारण राजसी तपस्या के जो फल प्रभाव, ख्याति एवं सम्मानवृद्धि आदि हैं वेही उनको प्राप्त हुए। "यादृशीभावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"। जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है। इसी से शास्त्र में फल-कामना का बारम्बार निषेध किया गया है। इसीलिये श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि:—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।

अर्थात् तुम्हारा कर्मों में ही अधिकार है; फलोंमे कोई अधिकार नहीं है।

उल्लिखित भगवद्वाक्य एवं शास्त्रविधि मात्र का प्रयोग आध्यात्मिक विषयों में ही किया जाता है। किन्तु सब प्रकार के कार्य्यों में ही यह विधि घटित होती है। आयुष्मत्ता-सम्पादक जो सब विधियां शास्त्र में कही गई हैं वे भी फल कामना बिना केवल विधि प्रतिपालन के लिये सुपालित होना आवश्यक है। फल का अन्वेषण करते ही रजोगुण परिस्फुट होता है एवं वह फलों को विकृत कर देता है अथवा फलने ही नहीं देता। किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र को कई एक फूल के पौधे देकर कहा कि इन पौधों को लगाकर यत्न पूर्वक जल देने से इनकी जड़ें मिट्टी में जमजाने पर इनमें दिव्य फूल फूलेंगे। बालक ने पिता की आज्ञा का पालन किया। किन्तु वह नित्य पौधों को उखाड़कर देखने लगा कि मिट्टी में उनकी जड़ जमी या नहीं। फूलों के पौधे इसमे अवश्यही सूखकर नष्ट होगये। वस्तुतः विधिवोधित होकर ही कार्य्य करना चाहिये, उक्त बालक के समान केवल फलान्वेषी न होना चाहिये।

किन्तु यदि कोई फलान्वेषण ही न करेंगे तो जिस विधि के प्रतिपालन के लिये हम आदिष्ट होते हैं वही प्रकृतिविधि है, सो कैसे

जानेंगे ? आजकल शास्त्राचार के विषय में यही प्रश्न पूछा जाता है । अपने पिता की गोद में बैठे एक शिशुने आकाश की ओर दृष्टि कर चन्द्र को देखकर पूछा कि—"पिता ! वह क्या है ? " । पिता ने कहा—उसे चन्द्र कहते हैं । सीधे स्वभाव के बालकने और कुछ नहीं पूछा । ज्ञान से विरोध रखनेवाली संशयात्मिकता को उसके सरल हृदय में स्थान नहीं मिला । वह चन्द्र शब्द की बारम्बार आवृत्तिकर सीखने लगा । किन्तु यदि वह पूछता कि "उसको चन्द्र क्यों कहते हैं ?" हो न हो, पिता यही कहता कि उसको चन्द्र कहते हैं । यह कहकर और दो एक जनों के मुख से भी शिशुको चन्द्रशब्द सुनवा देता । इस स्थल में भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया जा सक्ता है । देशीय चिकित्साशास्त्र से, पाश्चात्य विज्ञान से एवं भिन्न २ देशों के आचार से दिखलाया जा सक्ता है कि इन सब के द्वारा शास्त्रोक्त आचार की उपकारिता समर्थित हुई है ।

किन्तु देशीय चिकित्साशास्त्र हो अथवा विदेशीय विज्ञान ही हो वा अन्य देशीय लोगों का आचार ही हो, कोई हमारे स्मृति कथित आचार विधि समूह के समान सर्वदिग्दर्शी एवं सर्वतोभाव से हमारा उपयोगी नहीं होसक्ता । चिकित्साशास्त्र एवं वाह्यविज्ञान एक-देशदर्शी हैं । अन्य देशीय आचार भी किसी विशेष स्थल में ही हमारे उपयोगी होसक्ते हैं । किन्तु वह कोई भी शास्त्रोक्तविधि के प्रमाणरूप से नहीं गिने जा सक्ते । इसके अतिरिक्त आचार की सम्पूर्ण गुणवत्ता का मूल जो 'अभ्यास' है उससे आर्य्यशास्त्र भिन्न अन्य किसी के द्वारा हमको सुशिक्षालाभ नहीं सम्पन्न होसक्ती । अभ्यास द्वारा मनुष्य की द्वन्द्व सहिष्णुता शक्ति की कितनी, कहांतक उन्नति होसक्ती है, उसका अनुभव योगशास्त्रकार ही कर सके हैं, और कोई अबतक उक्त अनुभव को नहीं पासका है । शरीर के आन्तरिक व्यायाम की शिक्षा का अधिकार एकमात्र योग शास्त्र को ही है ।

" वित्तानिशाखा, इच्छस्तानिकामाः "

सदाचाररूपी वृक्ष की शाखाधन है, और सब प्रकार की कामना उसके पत्र हैं । सदाचार धनवत्ता के अनुकूल है । धनवत्ता तीन भाग में बिभक्त करके विचारने योग्य है ।

(१) धनार्ज्जन (२) धनका संरक्षण (३) धन का संवर्द्धन (१) शरीर स्वस्थ, पटु एवं कार्यक्षम; बुद्धि विषयवोध में शीघ्र गमन करने वाली एवं अमोघ; चित्त-स्थिर एवं उत्साहसम्पन्न और स्वभाव-विश्वासप्रद एवं लोकानुराग का आकर्षक होने पर धनोपार्ज्जन कठिन नहीं होता । सदाचार द्वारा शरीर में, धीशक्ति में, चित्त में और स्वभाव में यह सकलगुण उत्पन्न होते हैं इसीलिये सदाचार के अभ्याम से धनोपार्ज्जन सहज होता । (२) धन का संरक्षण भोगेच्छा के संयम से, विलासिता के दमन से, वाह्याडम्बर के संकोचन से और समाज में न्यायानुगामिता के पालन से सुसिद्ध होसक्ता है । यह सब भी सदाचार की रक्षा होने से उत्पन्न होते हैं । (३) धन का सम्बर्द्धन – मितव्ययिता, परिणामदर्शिता एवं समाज की सुव्यावस्था की अपेक्षा रखता है । अस्तु यह सब भी सदाचार द्वारा सम्बर्द्धित और सुरक्षित होते हैं । धन वृद्धि का प्रसिद्ध उपाय जो वाणिज्यादि व्यवसाय हैं उसमें कृतित्वलाभ होना सत्यनिष्ठा, सुबुद्धि; एवं दूरदर्शी होने से होता है । सदाचार इन तीनों के ही अनुकूल है ।

धनवत्ता के साथ धर्म्मवत्ता को जो किञ्चित् विरोध है, वह धनवत्ता को सर्वव्यापी कहकर ही किसी २ को भ्रम उत्पन्न होता है । यिशुखृष्ट ने कहा था कि " ऊंट जिस प्रकार सुई के छिद्र में प्रवेश नहीं कर सक्ता, उसी प्रकार धनशाली व्यक्ति भी स्वर्गद्वार में प्रविष्ठ नहीं हो सक्ता ।" सरल स्वभाव यिशु ने एकदेशदर्शी होकर ही इस प्रकार कहा था । यह बात संसार के प्रति एकान्त वैराग्य उदित करनेवाली है । पर यह बात सत्य नहीं है—इसीलिये उनके मतानुगामी भक्तिमान काथलिक याजकवर्ग आश्रम भेद का तथ्य न समझ कर एकबार ही गृहत्यागी सन्न्यासी हो उठे । एवं गृहस्थ प्राय कोई भी कार्यतः इस मत का प्रकृत तथ्यग्रहण नहीं कर सके, अत्यन्त धन लोलुप होरहे । सर्वदिक्दर्शी आर्य्यशास्त्र इस प्रकार मोटी बात नहीं कहता । वह धन को सात्त्विक, राजस, एवं तामस इन तीन प्रकारमें विभक्त करके परमसात्त्विक जो 'देय' नामक धन उसका यह लक्षण कहता है –

" अपराबाधमक्लेशं प्रयत्नेनार्जितं धनं ।
स्वल्पं वा वहुलं वापि देयमित्यमिधीयते ॥ "

अर्थात्—दूसरे को बाधा न पहुंचाकर, स्वयं अधिक क्लेश न पाकर, निज परिश्रम के द्वारा जो २ अल्प वा अधिक धन उपर्जित हो उसका नाम 'देय' अर्थात् उसी धन का दान ही विशुद्ध दान होता है। उल्लिखितरूप में उपार्जित धन, पुण्यकर्म का सहकारी है; सुतरां वह धन धनी व्यक्ति के पक्ष में स्वर्गद्वार का आपावृत्त (खोलनेवाला) होसक्ता है; रुद्ध नहीं करता। शास्त्र में राजसधन के लक्षण इस प्रकार हैं यथा-

कुसीदकृषि वाणिज्य शुल्कगानानुवृत्तिभिः ।
कृतोपकारादाप्तञ्च राजसं समुदाहृतम् ॥

अर्थात् व्याज लेकर, खेती करके, वाणिज्य करके, शुल्क (महसूल वा लगान) लेकर संगीतादि व्यवसाय के द्वारा और उपकृत व्यक्ति के स्थान को ग्रहण करके जो धन लब्ध हो उसको राजस धन कहते हैं। इस राजस धन का उपार्ज्जन सामान्यतः ब्राह्मण के लिये निषेध किया है। तब आपत्काल में ब्राह्मण इन सकल उपायों को अवलम्बन कर सक्ते हैं। तामस धन के शास्त्रोक्त लक्षण यह हैं—

पार्श्विक द्यूत चौर्यार्त्ति प्रतिरूपक साहसैः ।
व्याजेनोपार्जितं वस्तु तत्कृष्णं समुदाहृतम् ॥

अर्थात्—पद के प्रताप से, द्यूत के बल से, चोरी द्वारा, दूसरे को पीड़ा पहुंचा कर लोकों को रूप दिखाकर, साहस कर्म के द्वारा एवं दूसरे को ठगकर जो धनलब्ध हो उसका नाम कृष्ण वा तामसधन है।

इस धन का उपार्ज्जन शास्त्र में निषिद्ध है। यदि खृष्ट के मतानुयायी योरुपीन इस धन के इन तीन भेदों को जानते, तो बोध होता है कि—कमीशन प्रभृति नाम से घूस खाना, घुड़दौड़ प्रभृति में बाजी लगाकर व्यापार करना विजातियों का देश लूटना, वाणिज्य वस्तुओं में कृत्रिमता (बनावट) करना परस्वापहरण, पर पीड़न प्रभृति पृथिवी पर बहुत कम होते। उन्होंने सुना कि धनमात्र ही दुष्ट है, पर वह इस बात की रक्षा नहीं कर सके और कोई जाति भी नहीं कर सकी। सुतरां धनोपार्जन के लिये जो विशुद्ध पथ खोजना चाहिये

वह उन्होंने नहीं जाना। सात्विक, राजस और तामस का भेद न रखने से धनोपार्ज्जन के लिये पृथिवी भर पर अशान्ति बढ़ा रहे हैं।

शास्त्राचार हम को इस प्रकार नहीं करने देता। पर इस समय आपत्काल आ पड़ा है, अतएव सात्विक एवं राजस इन दो प्रकार से धन लाभ के लिये ही चेष्टा करने से, कर सक्ते हैं। किन्तु तामस धन हमारे लिये अस्पृश्य एवं अग्राह्य है।

स्थूलतः धन का प्रयोजन तीन प्रकार का है (१) अपना एवं स्वजनों का भरणपोषण (२) भोग्याभिलाष की तृप्ति करना (३) दान के द्वारा दूसरों का दुःखमोचन करना। इन तीनों प्रयोजनों में कोई भी असीम नहीं है। प्रत्युत सबकी सीमा सङ्कीर्ण है (१) अपने एवं अपने अवश्य पोष्यादिजनों के निमित्त मोटे खानपान पहराव वस्त्र के संस्थान के लिये धन का अधिक प्रयोजन नहीं होता। यदि कभी कहीं इसके अनुसार भी धन इकट्ठा न हो, तव तो समाज में विशेष दोष ही उत्पन्न हुआ; इसलिये उस दोष के दूर करने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिये। (२) भोग, सुख की सीमा भी अति दूरवर्त्ती नहीं है। विषय में इन्द्रियों के लगाने से ही भोग होता है, किन्तु इन्द्रियां अति शीघ्र ही उपभोग्य ग्रहण में अशक्त हो पड़ती हैं। अति उपादेय वस्तुओं का भोजन सुख भी पेट भरने पर और कुछ नहीं रहता, केवल यही नहीं किन्तु इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति कुछ अवशिष्ट रहते हुएही भोगों का त्याग आवश्यक होता है। सम्पूर्ण उदरपूर्त्ति के पहले ही यदि भोजन करना न परित्याग किया जाय तो भोजनका सुख अनुभव नहीं होता। (३) दान के गुण भी असीम हैं। जिस दान के द्वारा दाता की सहानुभूति एवं स्वचिन्ता की वृद्धि न हो उस दान में गुण नहीं है। और जिस दान से ग्रहीता का अपकर्ष साधन हो अर्थात् उसका आलस्य अथवा आत्मग्लानि उत्पन्न हो उस दान से भी प्रकृत सुख नहीं एवं उपकारिता भी नहीं। निष्ठावान व्यक्ति के दान की सीमा इस प्रकार अति सङ्कीर्ण ही है। साधारण हितकरकार्य में जो दान उसकी सीमा इसकी अपेक्षा विस्तृत है परन्तु वह भी अत्यन्त असीम नहीं है।

. हमारा शास्त्राचार, धन-प्रयोजन की इसी सीमा को उपलब्ध करके ही उपदिष्ट हुआ है। कारण कि धन का प्रयोजन सङ्कीर्ण सीमा में सम्बद्ध होने पर भी लोगों की धन तृष्णा अत्यन्त असीम है। शास्त्र ने सात्विक धनोपार्ज्जन के उपाय वर्णन करके धनार्जन की स्पृहा को मन्दीभूत करने के लिये यत्न वर्णन किये हैं। शास्त्र ने गृहस्थ को धन उपार्ज्जन करने एवं धन सञ्चय करने की विधि वर्णन करके अंत में कहा है कि:—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्य्ययः ॥

अर्थात्—सुखार्थी पुरुष सन्तोष का परम अवलम्बन करके संयत चित होवे, सन्तोष ही सुख का मूल है और इसके विपरीत दुःख का मूल है। अतएव सुख के लिये धन नहीं है, कारण कि भोगमात्र ही सुख नहीं होता है।

धन के लाभ में प्रमत्त होने का शास्त्र में निषेध है, और कामना को जीत कर चलनाही शास्त्र का उपदेश है।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत कामतः ।
अति प्रसक्तिं श्चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥

अर्थात्—इन्द्रियों के लिये सब कामतः प्रसक्त नहीं होवें, किन्तु उनकी अति प्रसक्ति होने पर मन का संयम करें।

इस संयम के साधन के द्वारा प्रकृत प्रस्ताव में सुख भोग की सम्भावना है। काम को दमन कर न रखने से कामका ही उपभोग नहीं होता।

न जातु कामः कामाना मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

भावार्थ यह है कि काम के उपभोग से कदाचित् कामना की शान्ति नहीं होती है अग्नि में घृताहुति देने से अग्नि की वृद्धि ही होती है। अर्थात काम के उपभोग से भोग कामना मात्र ही बढ़ती है, भोग की शक्ति वृद्धि नहीं होती, सुतरां कामना की वृद्धि से दुःख की ही वृद्धि होती है।

वस्तुतः शास्त्रकारों ने कामना को दमन करने का उपदेश देकर भोगपथ को मुक्त रक्खा है एवं भारतवासी अपने सर्वदिक दर्शी शास्त्र के उपदेशानुयायी हुए थे, इसी से उनका जीवन कभी कामना रूप पत्रों के आच्छादन में आच्छादित होकर पुष्प एवं फल से रहित नहीं हुए।

"यशांसि पुष्पाणि"

सदाचारवृक्ष के पुष्प यश है । अर्थात् सदाचार सम्पन्न व्यक्ति लोगों के निकट यश को प्राप्त होता है । यह बात स्वतःसिद्ध वाक्य की भांति सहजही समझ में आ जाती है । इसमें कोई सन्देह ही नहीं है कि सदाचारी व्यक्ति अवश्य ही जनसाधारण के निकट प्रशंसापात्र होगा; क्योंकि जिस आचार व्यवहार का पालन करते हुए चलने के लिये सब को आज्ञा है उसका जो पालन करता है वह क्यों न सुख्याति को प्राप्त होगा ? विद्यालय का जो बालक भलीभांति लिखता पढ़ता है वह पारितोषिक पाता है । सदाचारी होने से लोगों के निकट जो यश प्राप्त होता है सो इसी पारितोषिक के समान है । यूरोपियन लोग भी कहते हैं कि जो साधारण का अभिमत है उसके अनुयायी कार्य्य करने से ही सुख्याति और न करने से ही निन्दा होती है । इसी कारण यूरोपियन् लोगों मे यद्यपि शास्त्राचार नहीं है तथापि जिस समय जिस आचार का प्रचलन होता है, वे किञ्चिन्मात्र भी उसके विरुद्ध आचरण नहीं कर सक्ते ।

किन्तु "सदाचार का पुष्प यश है" यह कहकर जिस बात का उल्लेख हुआ है उसका तात्पर्य्य और भी कुछ विशेष विचार करके समझना होगा । देखा जाता है कि यश के मुख्य कारण तीन हैं:

(१) अनन्य साधारण गुणशाली होना, (२) परोपकार परायणता, (३) नम्रता । इनमें से प्रथम अर्थात् अनन्य [illegible] शालिता अधिक परिमाण में प्रकृतिप्रदत्त वस्तु है । वह [illegible] साधारण शिक्षा के वशवर्त्ती नहीं होती, वरन् यदि [illegible] कोई दोष रहता है तो उसमें व्याघात हो जाता है । हमारी शास्त्राचाररूप शिक्षा में वैसा कोई दोष नहीं है, यह बात [illegible] जायगी । (२) परोपकार परायण व्यक्ति के हृदय में पर [illegible] रहती है, जिससे उसके चित्तमें समाज के प्रति सहानुभूति [illegible] है । परोपकारी व्यक्ति को कोई स्वार्थपर नहीं समझ सकता । वह सामाजिक बन्धन के मौलिक सूत्र में ही सब प्रकार से भलीभांति बंधा हुआ होता है । परोपकारी व्यक्ति समाज का भक्त होने के कारण

समाज का भी पूर्ण प्रेम पात्र होता है। "योमद्भक्तः समेप्रियः"—जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है। इसमें कोई संशय नहीं है कि सदाचार मनुष्य को परदुःखकातर और परोपकारी बनाता है। यह अतिथिसत्कार आदिक सब प्रकार के दान कार्य्यों में प्रवृत्त करता है। इसी कारण सदाचार से यश का उदय होता है। (३) परोपकार की अपेक्षा भी नम्रता नामक गुण यश पाने का अत्यन्त प्रशस्त मार्ग है। जो परोपकार करके अविनीत भाव धारण करते हैं, आत्मप्रशंसा में मग्न हो जाते हैं, उपकृतव्यक्ति के आत्मगौरव को विनष्ट करते हैं, उसके प्रति प्रभुता प्रकट करते हैं अथवा उसको पीड़ा पहुंचाते हैं उनका यश मलिन हो जाता है। किन्तु जो कोई संसार में नम्र और विनयी होकर चलते हैं एवं दीनता व अकिञ्चनता प्रदर्शित करते हैं वे परोपकार करें या न करें, प्रायः उन पर सब लोग प्रसन्न रहते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं।

दीन भाव के प्रति इस प्रकार लोगों को स्वाभाविक अनुग्रहण करते देखकर धूर्त्त लोग अनेक समय एक प्रकार का कृत्रिम (बनावटी) दीन भाव प्रकट करते रहते हैं। कोई २ दारिद्र्य दिखाकर, कोई अस्वस्थता का दुःख प्रकट कर एवं कोई भाग्यचक्र का फेर प्रसिद्ध कर अपने अभ्यन्तर के गर्व एवं अपनी स्वार्थपरता के घृणित दृश्य को प्रच्छन्न रखते हैं एवं कदाचित् ही कभी कुछ थोड़ा सा लोगों का अनुराग और अनुग्रह प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। हम एक भद्र पुरुष को जानते हैं, वह अपनी असुस्थ अवस्था का कोई सम्बाद बिना दिये कभी किसी को भी एक पत्र नहीं लिख सक्ते थे। और एक व्यक्ति को जानते हैं। उनके धन, पुत्र और लक्ष्मी (वभव) सब कुछ था। वह स्वाभाविक अत्यन्त परसन्तापी और मत्सरी (मन में मैल रखनेवाले) थे। किन्तु किसी न किसी प्रकार अपने किसी कष्ट की बात बिना कहे कभी किसी के साथ वार्तालाप न समाप्त करते थे। वह लोगों की कृपा या अनुग्रह के एकान्त भिक्षुक थे एवं बहुतों से उनको अनुग्रह की मुष्टि भिक्षा मिलती थी।

इस प्रकार का भाग ही दोष है। किन्तु अकिञ्चनता का भाव मानव की अवस्था से सम्भूत है इसलिये उसका भाग भी लोगों की आंखों को भला लगता है। समाज के प्रति नम्रता ही हमारे मन का स्थायीभाव होना चाहिये। हम जन्म से लेकर मरण पर्य्यन्त औरों के निकट ऋणी रहते हैं, जन्म भर हम उनके ऋण को नहीं चुका सक्ते। हम चाहे जो करें और चाहे जितना करें सर्वत्र ही ईश्वर के पुण्य ईश्वर के अर्पण कर केवल ईश्वर की पूजामात्र करते हैं। अर्थात् समाज ने जो कुछ हमको दिया है हम वही परस्पर को देकर परस्पर का उपकार करते हैं। समाज की दी हुई शक्तियों से ही हम कार्य्य-सञ्चालन करते हैं। उसमें निजके गौरव का, प्रशंसा का अथवा प्रभुता प्रकट करने का कोई भी कारण नहीं होता, बरन् अन्य के उपकार करने से सुख और सामर्थ प्राप्त होने के कारण समाज के निकट हमारा पूर्वऋण और भी बढ़ता जाता है। इस ऋण के भारसे नम्र रहनाही मनुष्य अवस्था के लिये उपयोगी है। पिता के निकट जैसे पुत्र नम्र रहता है वैसे ही सब लोगों को समाज के निकट नम्र रहना ही न्यायसङ्गत है। नम्रभाव से ही समाज के निकट उसके अपरिशोध-नीय ऋण की स्वीकृति होती है एवं उसी स्वीकृति से ही ऋणदाय से निष्कृति (छुटकारा) होती है और यश ही उस निष्कृति का प्रमाणपत्र है।

हमारा शास्त्रोक्त सदाचार उल्लिखितरूप के नम्रभाव का पोषक एवं अभ्यासजनक है। शास्त्र में यही कहा गया है कि गृहीव्यक्ति की ऋणपरिशोध या पूर्वकृत पातकों को नष्ट करने के लिये ही अपने अवश्य कर्त्तव्य कर्म्म करने चाहिये। ऋण का परिशोध करने या कृतपापों का प्रायश्चित करने से प्रशंसा का उद्रेक हो ही नहीं सक्ता, केवल मन के उद्वेग की शान्ति हो सक्ती है। और विधि का पालन करनाही धर्माचरण है इस बात को शास्त्र बारम्बार कहता है, जिससे वश्यभाव की शिक्षा और अभ्यास होता है। इन सब कारणों से शास्त्राचार या सदाचार नम्रता का साधक है। जो नम्रता का साधक है उससे यश भी अवश्य ही प्राप्त होता है।

परन्तु अनेकानेक आचारी व्यक्तियों को समधिक अहंकारी एवं दम्भपूर्ण होते देखा जाता है। ये पुण्य कर्म्म का बोझा शिरपर लेकर जैसे पैर पटकते हुए धर्म्म २ करते चलते हैं। वास्तव में इनका आचार भाव दुष्ट होने से ही ऐसा होता है। ये सब लोग शास्त्रोक्त 'अर्थवाद' आदि के ऊपर बहुत अधिक लक्ष्य करके अपने अनुष्ठित कर्म्म जो केवल आत्मा के परिशोधक अथवा कृतपाप का प्रायश्चित मात्र हैं-सो नहीं सोचते या विचारते। इनको फल का लोभ अधिक होता है, जिससे इनके आचार रजोदोष से दूषित हो पड़ते हैं।

अङ्गरेजी शिक्षा को प्राप्त किये लोगों में शास्त्राचार अपरिज्ञात और अनभ्यस्त होता है; इसी कारण उनके मनमें वश्यभाव की न्यूनता एव उनके व्यवहार में नम्रता की त्रुटि उत्पन्न होती जाती है। इसी से उनमें जो गुण हैं वे भी संसार की आंखों के आगे सुस्पष्टरूप से समुदित नहीं होते एवं वे लोग सुख्याति के पात्र नहीं बन सक्ते। हम को जान पड़ता है कि अङ्गरेजी में उन्होंने जिस 'नैतिक साहस' का नाम सुना है, उससे अनेकांश अनिष्ट की उत्पत्ति हुई है। वे लोग वीर प्रकृतिवाले अंगरेजों के शिष्य हैं। सुतरां वीर स्वभाव सुलभ साहस धर्म्म के बड़े ही पक्षपाती हैं। इसी कारण साहस का प्रमाण देने के लिये देश प्रचलित आचार व्यवहार का पालन न करते हुए देशाचार के प्रति अनास्था और अपने समाजके प्रति अवज्ञा दिखलाते हैं

किन्तु कुछ ध्यान देकर विचार पूर्वक देखने से ही जाना जाता है कि आज दिन देशीय शास्त्राचार के प्रति अश्रद्धा दिखलाने में कुछ भी उनके साहस का प्रमाण नहीं पाया जाता। साहस का अर्थ है निर्भीकता। भय का पात्र कौन है? जिसमें इष्ट और अनिष्ट करने की शक्ति है वही भय का पात्र है। इस समय हमारा समाज किसी का भी वैसा कुछ इष्ट या अनिष्ट नहीं कर सक्ता। इस समय इष्ट या अनिष्ट करने की शक्ति अधिकांश ही अंगरेजों के हाथ में है। अतएव अब पहले की भांति समाज वैसा भयभाजन नहीं है, अंगरेजही इस समय भय के पात्र हैं। सुतरां समाज को अपमानित करने में पुत्रवत्सल पिता को अपमानित करने के समान पाप का ही प्रमाण

मिलता है, वह साहस का प्रमाण नहीं हो सक्ता । इस समय अंग-रेजों के अनुकरण में साहस नहीं है—उसमें केवल प्रबल का तोषा-मोद (खुशामद) मात्र होता है । मुसलमानों के अमल में देश के जो सब हिन्दू सन्तान मुसलमान होगये, तुर्कसुलतान की अधीनता में चाकरी करने जाकर जिन सब यरोपियन् लोगों ने ख्रीष्ट धर्म्म को छोड़कर महम्मदी धर्म को स्वीकृत किया, एवं चीन साम्राज्य के सैनिक कार्य्य में प्रवृत्त होकर जिन मार्किन एवं यूरोपियन पुरुषों ने अपने नाम और परिच्छद (पोशाक पहनावे) को चीनी लोगों के अनुरूप कर लिया उनमें भी उससे जैसे " नैतिकसाहस " नहीं देख पड़ता वैसे ही अंगरेजों के अधिकार कालमें जिन भारतवासियों ने देशाचार को छोड़कर अंगरेजी आचार गृहण किया है और जो करते हैं उनकी भी उससे निर्भीकता नहीं प्रमाणित होती । नैतिक साह-सिकता का लक्षण इसके सम्पूर्ण विपरीत है—

श्रेयान्स्वधर्म्मोविगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मोभयावहः ।। (गीता)

अपना धर्म्म यदि विगुण भी हो तो भी भलीभांति अनुष्ठितधर्म की अपेक्षा वही मंगलकारी है । स्वधर्म्म में मर जाना भी श्रेय है, परधर्म्म भयजनक है । इस स्थल पर धर्म्म शब्द से आचार का बोध कराया गया है यह बात इस प्रकरण से ही स्पष्ट है, यह समझाने के लिये अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु इस उक्ति की एक बात बड़ी ही गुरुतर है । मृत्यु की अपेक्षा भी अधिकतर भयकी वस्तु क्या है ? जीव के सब प्रकार के भयों का एकमात्र मूलकारण मृत्यु का भय है । किन्तु इस स्थल में उस मृत्यु को भी श्रेय कहा है एवं यह भी कहा है कि उस महाभयानक मृत्यु की अपेक्षा भी अधिक एक भय है । वह पाप के भय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ऐसा नैतिक साहस क्या और कहीं भी सिखाया गया है ? नवीन अंगरेजी शिक्षित लोग देखें कि उनके देशके पूर्व शिक्षादाता लोगों की अपेक्षा कोई अधिकतर निर्भीक नहीं होसक्ता । उन नवशिक्षितों

की वर्तमान अनुकरण की इच्छा नैतिक साहसिकता का लक्षण नहीं है वरन् केवल अज्ञता एवं नैतिक भीरुता का ही परिचय देनेवाली है ।

जो शास्त्राचार मनुष्य के अवश्य कर्त्तव्य कार्य्यों को ऋण का परिशोध या पाप का प्रायश्चित् बताता है, जो शास्त्राचार ऐकान्तिक वश्यता का अभ्यास कराकर नम्रता एवं अकिञ्चनता को चित्त में स्थायीभाव के रूप में परिणत करता है, जो शास्त्राचार मृत्यु भयकी अपेक्षा भी पाप के भय को बढ़ा देता है उसकी अपेक्षा अत्यन्त उत्तम और श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है । कीर्त्ति एवं यश उसी शास्त्राचार या सदाचार की क्षणस्थायी (ऐहलौकिक) शोभा एवं आनन्ददायक पुष्पमात्र है ।

" फलञ्चपुण्यम् "

सदाचार वृक्ष का फल पुण्य है । अर्थात् सदाचार परायणव्यक्ति को पुण्य प्राप्त होता है । पुण्य के अर्थ हैं पवित्रता-निर्मलता-निष्पापता चित्तशुद्धि राजस तामस भावशून्य विशुद्ध सात्विकता आसुरीभावका निरास होकर देवभाव का अधिष्ठान-स्वाभाविक पाशवप्रवृत्ति का दमन होकर ज्ञानलाभ के पथ की प्राप्ति । इस पथकी प्राप्ति होने से ही पुण्य होता है ।

इस समय देखना होगा कि इस पथ की प्राप्ति के विघ्न क्या २ हैं । सहजही जाना जाता है कि ज्ञान लाभ का पथ पाने के पक्ष में चार विघ्न हैं । (१) शरीर की अपटुता अर्थात् शिथिलता । (२) बुद्धि की जड़ता । (३) मन की चञ्चलता । (४) काम क्रोधादि शत्रुओं की प्रबलता। शास्त्राचार के पालन से इन चारों दोषों का निवारण होता है।

(१) शरीर असुस्थ, अपटु एवं बलहीन होने से पुण्य सञ्चय करना कठिन होता है । चिरकाल से रोग ग्रस्त पुरुषों का चित्त परिशुद्ध नहीं होसक्ता । वे सर्वदाही जिस शारीरिक कष्ट का अनुभव करते हैं उसके द्वारा उनका मन दूषित हो जाता है । जगत् संसारके प्रति उनकी दृष्टि अनुकूल नहीं होसक्ती । उनके हृदय में प्रेम और श्रद्धा का स्रोत सूख जाता है । रोगी एवं दुर्बल लोगों की कार्यप्रवृत्ति और कार्यक्षमता भी क्रमशः न्यून होजाती है । जिसकी कार्य प्रवृति और कार्यक्षमता न्यून होती है उस जीव के साथ प्रकृति की

सुखमय घनिष्ठता का अभाव हो जाता है। जितने आलसी, कुटिल और दुष्ट स्वभाव के लोग देखे जाते हैं, यदि उनके लड़कपन से लेकर अबतक का जीवनचरित्र जाना हो तो अनेक स्थलों पर प्रमाणित होगा कि वे सब लोग बाल्यकाल में अनेक रोग भोग चुके हैं एवं उनका शरीर किसी २ प्रकार की व्याधि का आवास बना हुआ है। मनुष्य के चरित्रगत दोष का अनुसन्धान करने से प्रायः ही देखा जाता है कि अधिक स्थलों में ही पैतृक दोष अथवा शैशव की शारीरिक दुरवस्था ही उसका निदान है। इसी कारण शरीर की पटुता एवं सबलता सच्चरित्रता का एक परमप्रधान हेतु है; एवं जो सच्चरित्रता वा चित्त शुद्धि का हेतु है वही ज्ञानलाभ का उपाय है। जान पड़ता है इसी से ही शास्त्र में कहा है कि—"नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः"। बलहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सक्ता। अर्थात् जिसका शरीर अपटु है वह पुरुष पुण्य सञ्चय पूर्वक अपने गन्तव्य ज्ञानलाभ के मार्ग में अग्रसर नहीं हो सक्ता।

शरीर की सुस्थ अवस्था के साथ धर्म का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है सो सर्वदिक्दर्शी एकमात्र आर्य्य शास्त्र को ही सर्व प्रथम विदित हुआ था। हमारा शास्त्र स्पष्ट कहता है कि—"धर्म्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यंमूल मुत्तमम्" अर्थात् उत्तम आरोग्यता ही धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है। और किसी जाति के धर्मशास्त्र में शरीर की पटुता की रक्षा करना धर्म्मोपार्जन के सम्बन्ध में इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक नहीं समझा गया। किन्तु कुछ विचार पूर्वक देखने से ही जान पड़ता है कि शरीर की स्वस्थता के साथ मन की स्वस्थता अथवा धर्म्मभाव का अत्यन्त ही निकट सम्बन्ध है। किसी समय एक अंगरेजी शिक्षा पाये हुए शूद्र सन्तान ने एक ब्राह्मणपुत्र से असूया परवश होकर कहा कि—"मैं अन्यान्य सब गुणों की अपेक्षा तुम्हारी शारीरिक सुस्थता की ही समधिक प्रशंसा करता रहता हूं"। ब्राह्मण सन्तान ने इस वक्र उक्ति के तात्पर्य को समझ कर कुछ हँसते हुए कहा कि—"तुम्हारी की हुई प्रशंसा ही सब की अपेक्षा उच्च प्रशंसा हुई, क्योंकि तुम्हारे कथन से यह सिद्ध होता है कि मैं और

मेरे पूर्व पुरुष सभी सदाचार सम्पन्न हैं" । वास्तव में शास्त्राचार के अनेकानेक सब नियमही शरीर को सुस्थ और कार्य्यक्षम बनाये रखने के उद्देश्य से व्यवस्थापित हुए हैं । इसी कारण सदाचार के अनेक नियम ही व्यायाम चर्चा के नियमों से अभिन्न हैं। किन्तु "हम केवल व्यायाम चर्चा करते हैं एवं शरीर का बल बढ़ाते हैं"—इस प्रकार का उद्देश्य अदूरदर्शी की आंखों के आगे पड़ने पर क्षणविध्वंसी शरीर के प्रति अति यत्न उत्पन्न होने से दोष उपजने की सम्भावना है । इसीलिये व्यायामचर्या को भी शास्त्राचार के रूप में परिणत एवं धर्मभाव से विधौत और विशोधित किया गया है ।

(२) बुद्धि की जड़ता को मिटाने के शास्त्रोक्त उपाय दो प्रकार के हैं । एक मानिसक है और दूसरा शारीरिक है । मानसिक उपाय, स्मृति अथवा मानसिक सब शक्तियों के सम्बर्धन और चित्त की एकाग्रता के सम्पादन तथा स्वाध्याय आदि के नियमित आलोचन एवं शास्त्र चिन्तन के भलीभांति परिचालन से सम्पन्न होता है। धीशक्ति की जड़ता के निवारण का शारीरिक उपाय भक्ष्याभक्ष्य के विचार से सुनिर्वाहित होता है । इस विषय में भी हमारा शास्त्र अनुपम अर्थात् अनन्य साधारण है । और किसी जाति के शास्त्र में भक्ष्याभक्ष्य का विचार इस प्रकार प्रत्यभिज्ञामूलक नहीं देखा जाता । इस इस वस्तु के खाने से बुद्धि मोटी होती है, यों कहकर उर्स २ वस्तु के खाने का निषेध और किसी जाति के शास्त्र में नहीं है । पाश्चात्य विज्ञान का रासायनिक विश्लेषण अबतक भी इतनी दूर तक नहीं जा सका है । अत्यन्त अर्वाचीन लोग ही समझ सक्ते हैं कि खान पान के साथ बुद्धि, स्मृति, धृति आदि मानसिक वृत्तियों का कोई सम्बन्ध ही नहीं है । किन्तु पूर्ण अद्वैतज्ञान से जिसकी उत्पत्ति हुई है उस आर्य शास्त्र में 'भोजन की वस्तुओं के गुण और दोष आध्यात्मिक व्यापार से भी पूर्ण सम्बन्ध रखते हैं'—यह तथ्य चिरकाल से स्वीकृत होता आ रहा है । "दध्नः सौम्यमथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वं समुदीषतितत्सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सौम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वं समुदीषति तन्मनोभवति ।"

अर्थात् हे सौम्य ! दही के मथने पर उसका जो अंश अत्यन्त लघु एवं सूक्ष्म है वह ऊपर को उठता है और वही घृत होता है। उसी प्रकार हे सौम्य ! भक्ष्य अन्नादि पदार्थ के खाने पर उसका जो अत्यन्त सूक्ष्म और लघु अंश है वह ऊपर को उठता है और वही 'मन' होता है।

(३) मन की चञ्चलता मिटाने के उपाय भी दो हैं। ध्यान, धारणा एवं समाधि के अभ्यास से मन की चञ्चलता दूर होती है। और प्राणायाम, व्रतों का अनुष्ठान एवं विधिविहित भोजन करना तथा अवैध भोजन का त्याग भी मन की चंचलता दूर करने का अत्यन्त उत्तम उपाय है। जिस २ वस्तु के भोजन से मन की चञ्चलता बढ़ती है उनका खाना शास्त्र में निषिद्ध माना गया है।

(४) क्रोध लोभादि आन्तरिक शत्रुओं का दमन, कामना के जीतने और इन्द्रियों के संयम से सुसिद्ध होता है। कामनाओं के जीतने की और इन्द्रिय संयम की विधि का उपदेश एवं अनुष्ठान मूत्र आर्य्यशास्त्र का सर्वाङ्गव्यापक विषय है अर्थात् इस विषय की चर्चा आर्य्यशास्त्र में बारम्बार सर्वत्र की गई है। भक्ष्याभक्ष्य के विचार में भी रिपुदमन पर आर्य्यशास्त्र की तीक्ष्णदृष्टि है। कैसी वस्तुओं के भोजन से किस २ रिपु का विशेष प्रादुर्भाव होता है उसका विचार करके ही साधकों के लिये भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था की गई है। जो लोग पाश्चात्य रासायनिक विश्लेषण को ही वस्तुओं के गुण—दोष विचारने का एकमात्र उपाय जानते हैं वे समझ ही नहीं सके कि पूर्व समय में कैसे पदार्थों के गुण और दोषों की परीक्षा हुई थी। वास्तव में रासायनिक विश्लेषण अपेक्षाकृत स्थूल व्यापार है। उसमें किसी समष्टिरूप में स्थित पदार्थ का भलीभांति व्यष्टीकरण नहीं होता एवं उसके द्वारा कोई पदार्थ जीव शरीर में कैसा कार्य्य करता है सो पुङ्खानुपुङ्खरूप से नहीं समझा जाता। भक्ष्य पदार्थों के गुण-दोष उन्हीं सब पदार्थों को खाकर देखने से ही यथार्थ सूक्ष्मदर्शी लोग समझ सके हैं। तात्पर्य्य यह कि हमारे शास्त्र में शरीर के पटुतासाधन, बुद्धिवृत्ति के सम्मार्जन, चित्तकी चञ्चलता के निवारण एवं आन्तरिक

रिपुओं के संयम साधन के गुणों का वर्णन और प्रशंसा की गई है, उक्त विषयों के साधन के बाह्य और आभ्यन्तरिक—दोनों प्रकार के उपाय कहे गये हैं एवं ऐसे सब नित्य व्यवहार और अनुष्ठान प्रचलित किये गये हैं कि जिनके द्वारा इन सब कार्यों का अभ्यास होने से समस्त मानव जीवन एक विशुद्ध पदार्थ एवं यथार्थ ज्ञानलाभ के लिये सर्वतोभाव से उपयोगी हो। शास्त्र पर दृढ़ विश्वास पूर्वक उसके विधि-निषेध वाक्यों की रक्षा करते हुए चल सकने से ही पुण्यरूप महत् फल की प्राप्ति होती है। कैसा सुन्दर तथ्य है! जिस धर्मरूप बीज से शास्त्राचार की उत्पत्ति है वही धर्म्मही पुण्य नाम से शास्त्राचार का शुभमयफल है। अर्थात् प्राकृत वृक्ष में जैसा है, इस सदाचार रूप महावृक्ष में भी वैसाही है—जो मूल में वही फल में।

उपक्रमणिका का उपसंहार।

पूर्वगत पांच प्रबन्धों में शीर्षकरूप से जो कविता के एक २ अंश दिये गये हैं उनकी पूर्त्ति यह है—

धर्म्मोऽस्यमूलान्यसवः प्रकाण्डो वित्तानिशाखाश्छदनानिकामाः।
यशांसिपुष्पाणिफलञ्चपुण्यमसौ सदाचारतरुर्म्महीयान्॥ १॥

एवं प्रबन्धों में जिन कई एक विषयों का निर्णय किया गया है उनका संक्षिप्त भाव यह है—

(क) रजोगुण एवं तमोगुण अर्थात् चञ्चलता आदि एवं आलस्य आदि को त्याग कर इन्द्रिय वृत्तियों के स्वभाव (वासना) का खण्डन कर उनको शास्त्रोद्भासित करने के लिये जो अभ्यास है उसका नाम शास्त्राचार या सदाचार है।

(ख) सदाचार द्वारा आयु जिस प्रकार दृढ़ होती है एवं बढ़ती है सो तीन प्रकार के कारणों की समष्टि पर निर्भर है। उन्हीं तीन प्रकारों में एक 'प्रकार' पुरुष परम्परागत है, और एक 'प्रकार' समाजगत है एवं एक 'प्रकार' पुरुषकार निष्ठ है, इसी कारण आचार पद्धति को कालव्यापकता एवं देशव्यापकता प्रतिपन्न होती है। प्रथम और द्वितीय कारणों के प्रति लक्ष्य करने से विज्ञान और चिकित्साशास्त्र

एवं अन्यदेशीय आचार, जो शास्त्राचार के प्रति पोषकरूप से ग्राह्य हो सकते हैं सो समझे जाते हैं। किन्तु वे प्रमाणरूप से ग्राह्य नहीं हो सकते—यह भी स्वतः सिद्ध है।

(ग) सदाचार द्वारा जो धन संग्रह का उपाय है उसका मूल मिताचार एवं कामना का संयम है।

(घ) सदाचार जिस कामना के संयम का अभ्यास करता है उससे इन्द्रिय वृत्तियां सतेज एवं भोग सुख के ग्रहण में सक्षम होती हैं।

(ङ) सदाचार से स्वभावजात शक्ति का उन्मेष, सहानुभूति का सम्वर्द्धन एवं अकिञ्चनता की शिक्षा होकर यश प्राप्ति का उपाय होता है।

(च) सदाचार शरीर के पटुता साधन, बुद्धि के संमार्जन, चित्त की चंचलता के निवारण एवं आन्तरिक रिपुओं के संयम का अभ्यास कराकर मनुष्य को पुण्यशील अर्थात् ज्ञानपथ का पथिक कर देता है।

उपनिषद् में इन बातों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया गया है। यथा—

"आचारशुद्धौसत्त्वशुद्धिः सत्वशुद्धौध्रुवास्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्वं ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"।

आचार की शुद्धि से सत्व (अन्तःकरण या जीवन) की शुद्धि होती है। सत्व की शुद्धि से निश्चयात्मिका स्मृति होती है। स्मृति अर्थात् मानसिक शक्ति की शुद्धि से सब प्रकार की ग्रन्थि या बन्धन विशेषरूप से मुक्त हो जाते हैं।

आचार प्रबन्ध ।

नित्याचार प्रकरण ।

प्रथम अध्याय ।

प्रातःकृत्य ।

दिन और रात्रि में आठ प्रहर या पहर होते हैं । एक प्रहर परिमित समय का दूसरा नाम 'याम' भी है । उसके आधे अंशको यामार्द्ध कहते हैं । स्मृतिशास्त्र में इसी यामार्द्ध को लेकर दैनिककृत्य निर्द्धारित हुए हैं । घटिकायन्त्र (घड़ी) के नियमानुसार दिन व रात्रि में सब मिलाकर चौबीस घटिका या घण्टे होते हैं, सुतरां एक प्रहर में तीन घंटे होते हैं और यामार्द्ध का परिमाण डेढ़ घण्टा होता है । कारण प्रत्येक यामार्द्धका कृत्य प्रत्येक डेढ़ घण्टे का कृत्य कहकर निश्चित हुआ है ।

शास्त्रोक्त रीति के अनुसार रात्रि का शेष यामार्द्ध साढ़े चार बजे से छः बजे तक रहता है । दिन का प्रथम यामार्द्ध छः बजे से साढ़े सात बजे तक रहता है । इसी प्रकार पर २ विभाग करने से सोलह यामार्द्ध रात्रि के ४॥ बजे से ६ बजे तक होते हैं । उल्लिखित सोलह यामार्द्धों में से प्रत्येक यामार्द्ध में जो २ करना चाहिये सो सविशेष विधि पूर्वक वर्णित है । कोई भी कार्य्य विधि बद्ध हुए बिना निर्वाहित नहीं होता क्योंकि जो कार्य्य विधिबद्ध नहीं होता उसमें मन नहीं लगता । सुतरां इस अभ्यास का सम्यक् संस्थापन हो इस प्रकार प्रत्येककृत्य के सविशेष वर्णन का उद्देश्य है । ये सब विशेष विधियां शास्त्र के देखने से जानी जा सकी हैं और जिनमें इस प्रकार स्वयं समझने की योग्यता नहीं है उनको चाहिये कि गुरु के निकट से इस विषय में अभिज्ञता प्राप्त करें । इस प्रबन्ध माला में केवल कुछ अत्यन्त मोटी २ बातों का उल्लेख किया जा सका है ।

प्रातःस्मरणीय विषय ।

ब्राह्ममुहूर्त्त में अर्थात् प्रातःकाल साढ़े चार बजे के समय निद्रा त्याग कर निम्नलिखित श्लोक पढ़ना चाहिये ।

ब्रह्मामुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतोबुधश्च ।
गुरुश्चशुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये सब मेरे लिये सुप्रभात करें ।

निद्रा खुली—मैं प्रबुद्ध हुवा—जैसे नवीन होकर फिर से इस जगत् में आया—सुतरां समग्र जगत् का स्मरण करने के लिये, सर्वमय के विश्वरूप का ध्यान करने के लिये आदिष्ट हुआ—मनुष्य, जिस दीप्तिमान् पदार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा एवं उत्पत्ति-स्थिति-ध्वंसरूप व्यापार के परिचिन्तन द्वारा देवभाव के परिग्रह या ग्रहण में समर्थ हुआ था,—मैं निद्रात्याग के उपरान्त जागकर पुनर्जन्म को प्राप्त जीव के समान धर्म्मतत्व के उसी आदिम सोपान पर अवस्थापित हुआ । कैसा सुन्दर 'तथ्य' है ! धर्म के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक और इनके अन्तर्निविष्ट तथा विमिश्र सभी भाव सब समय सब के लिये विद्यमान रहते हैं यह इस विधि के द्वारा कैसा सुव्यक्त हुआ ? जो समझते हैं कि उच्च अधिकार को प्राप्त व्यक्ति के लिये धर्म्म के निम्नवर्ती सब सोपान विलुप्त होजाते हैं, वे लोग जान पड़ता है कि धर्म्मतत्व या अन्य किसी तत्व के प्रकृत रहस्य को नहीं समझ सके । निम्नवर्त्ती सब सोपान अपने उर्द्धवर्त्ती सोपानों को धारण किये रहते हैं निम्नवर्ती सोपान एकबार भी लुप्त होजाने पर ऊपर के सोपान भी नहीं रह सक्के । वर्णमाला भूलकर कोई वेदपाठ नहीं कर सक्का ।

पूर्वोक्त विश्वरूप का स्मरण करने के उपरान्त जिस प्रकार ध्यान करना चाहिये सो नीचे के श्लोक में कहा गया है ।

प्रातः शिरसिशुक्लाब्जे द्विनेत्रन्द्विभुजंगुरुम् ।
प्रसन्नवदनंशान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम् ॥

अर्थात् प्रातःकाल निज मस्तक के मध्यवर्त्ती श्वेत पद्म के मध्य स्थल में द्विनेत्र, द्विभुज, प्रसन्नमुख एवं शान्त स्वरूप नररूप गुरुदेवका नाम लेकर स्मरण करना चाहिये । द्विनेत्र और द्विभुज इन दोनों विशेषणों से गुरु का नररूपधारी होना स्पष्ट होता है ।

नमोऽस्तु गुरवेतस्मै इष्टदेव स्वरूपिणे ।

यस्यवाक्यामृतंहन्ति विषंसंसारसंज्ञकम् ॥

अर्थात् उन इष्टदेव स्वरूप गुरु को नमस्कार है जिनका वाक्य-रूप अमृत संसाररूप विषको विनष्ट करता है । यहां संसार का अर्थ 'जन्म मरण का बन्धन' है ।

तात्पर्य्य यह कि विश्वरूप के चिन्तन द्वारा जो सर्वमय के ज्ञान लाभ में पदार्पण हुआ है, वह ज्ञान ही बतलाता है कि मनुष्य को मनुष्य से ही शिक्षा प्राप्त करनी होती है, मनुष्य को ही अपना आदर्श बनाना होता है एवं मनुष्य को ही उस सर्वमय का स्वरूप समझना होता है । इतिहास में यही "अवतार वाद" के नाम से प्रसिद्ध है एवं यह धर्म की उन्नति के मार्ग का प्रशस्त सोपान है । जो लोग कहते हैं कि किसी मनुष्य को गुरु कहकर मानना एवं सर्वेश्वर का प्रतिरूप समझना अनुचित है, उनसे हम इतना ही कह सक्ते हैं कि पृथ्वीपर आजतक ऐसा कोई मनुष्य नहीं उत्पन्न हुआ जो स्वयं जानबूझ कर या अज्ञातभाव से दूसरे किसी मनुष्य को अपना आदर्श बनाये बिना किसी भी विषय में कुछ उन्नति कर सका हो। सब को ही किसी न किसी आदर्श पुरुष की अवश्य आवश्यकता होती है । यही ज्ञान की प्राप्ति और धर्म्म की उन्नति का एकमात्र मार्ग है । गुरु किये बिना कोई जाति या व्यक्ति धर्म्मशील नहीं हुआ और न हो सकेगा ।

किन्तु इस मार्ग में कुछ दूर जानेपर और एक सोपान प्राप्त होता है । उस सोपान की प्राप्ति आगे के श्लोक में कही गई है ।

अहंदेवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

मैं उस देवके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूँ । मैं ब्रह्म ही हूँ, मैं शोकशून्य हूँ, मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, नित्यमुक्त और स्वीयभाव सम्पन्न अर्थात् ज्ञानमय हूँ ।

विश्वरूप-ज्ञान से गुरु स्वीकार या अवतारवाद एवं उससे अपने को जगदीश्वर से अभिन्न जानना ये अवश्यही परपरवर्ती सोपान हैं। प्रातःकाल में स्मरणीय इन कई श्लोकों में यही क्रमशः प्रदर्शित होकर पूर्ण अद्वैतवाद पर्यन्त स्मृतिपथ में समुदित होता है एवं अपने में और

सब में भेद न समझने के कारण "सभी चैतन्यमय है"-ऐसा पूर्ण बोध प्राप्त होता है किन्तु पूर्ण और अपूर्ण में, समग्र एवं अंशमात्र में अन्तर है एवं उसी अन्तर या पार्थक्य के कारण द्वैतज्ञान का मूल भी है। आगे लिखे हुए इस प्रातःस्मरणीय श्लोक में अद्वैत भाव से संश्लिष्ट द्वैतबोध व्यक्त किया गया है।

लोकेशचैतन्यमयादिदेव श्रीकान्त विष्णोभवदाज्ञयैव ।
प्रातःसमुत्थाय तवप्रियार्थं संसारयात्रा मनुवर्त्तयिष्ये ॥

हे लोकों के ईश्वर ! हे चैतन्यमय ! हे आदि देव ! हे श्रीकान्त ! हे विष्णु अर्थात् व्यापक ! आपकी ही आज्ञा के अनुसार आपकी ही प्रसन्नता के लिये प्रातःकाल उठकर मैं संसारयात्रा का अनुवर्तन करूंगा।

सर्वमय का चैतन्य स्वरूप होना पहले ही निश्चित होचुका है; इस स्थलपर उस जगदीश्वर की आज्ञा के पालन एवं उसे प्रसन्न करने के उल्लेख द्वारा संसार में द्वैतभाव का प्रयोजन अभिव्यक्त किया गया। जीवनी शक्ति का मूल ही 'सर्व' है। जीव उसी 'सर्व' की आज्ञा का वहन करता है एवं उसी को सर्वथा प्रसन्न करता है ऐसा अध्यास असङ्गत नहीं है आगे के श्लोक में यह अध्यास और भी स्पष्टरूप से व्यक्त किया गया है।

जानामिधर्म्मंन चमेप्रवृत्तिर्न्न जानाम्यधर्म्मंनचमेनिवृत्तिः ।
त्वयाहृषीकेश हृदिस्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म्म को जानता हूँ परन्तु मेरी प्रवृत्ति नहीं है और मैं अधर्म्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे निवृत्त नहीं होता। हे हृदयस्थित हृषीकेश ! आप जिसमें मुझको नियुक्त करते हैं मैं वही और वैसा ही करता हूं।

इस श्लोक के यथार्थ भाव को कोई २ लोग नहीं समझ पाते। ईश्वर हम लोगों के हृदय में हैं एवं वही कभी धर्म्मकार्य्य में और कभी अधर्म्मकार्य्य में हमको नियुक्त करते हैं—इस श्लोक का यह तात्पर्य नहीं है। पहले ही कहा गया है कि "हे ईश्वर ! आपकी आज्ञा पालने के लिये और आपकी ही प्रसन्नता के लिये मैं संसार यात्रा में प्रवृत्त होता हूं", इसी कारण इस परवर्ती श्लोक में कहा गया कि आपकी आज्ञा और आपकी प्रसन्नता कैसे होती है तो हृदय

में स्थित जो आप हृषीकेश + हैं उनके ही आदेश से मैं जानता हूं एवं धर्म्मकार्य्य में प्रवृत्ति एवं अधर्मकार्य से निवृत्ति भी आप से ही अर्थात् आपकी ही प्रेरणा से होती है; उसमें मेरा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इसी निरभिमानता और अकिञ्चनता का जानना ही श्लोक का प्रकृत उद्देश्य है। यह श्लोक निपट निरभिमानता को ही प्रकट करनेवाला है। उस अपापविद्ध, निर्लिप्त, सर्वेश्वर के प्रति पापाचरण के दोष का आरोपण करने के लिये यह श्लोक नहीं है।

उल्लिखित इन कई श्लोकों के पठन, मनन आदि के उपरान्त निद्रोत्थितव्यक्ति के लिये एक अवश्य प्रतिपालनीय विधि है—

प्रबुद्धश्चिन्तयेद्धर्म्ममर्थञ्चास्याऽविरोधिनम्।
अपीड़यातयोः काम्यमुभयोरपि चिन्तयेत्॥

अर्थात् निद्रात्याग के उपरान्त उस दिन किस २ धर्म्मकार्य का अनुष्ठान करना होगा उसका चिन्तन करना चाहिये एवं धर्म्म के अविरोधी किस २ अर्थ का साधन करना होगा। उसका भी चिन्तन करना चाहिये और धर्म्म तथा अर्थ, दोनों के अविरोधी किस किस काम का साधन करना होगा, उसका भी चिन्तन करना चाहिये। अर्थात् उपस्थित दिवस में करने के समस्त व्यापारों के विषय में साध्यानुसार पूर्वान्ह में ही निश्चय करलेना चाहिये। तदनन्तर शय्या से नीचे उतरना चाहिये।

इन सब बातों की आलोचना करके नव्यसम्प्रदाय के कोई कोई कह सक्ते हैं कि यद्यपि हमारे शास्त्र के निर्दिष्ट प्रातःस्मरणीय विषय जैसे यथायथ हैं वैसे ही उच्च और पवित्र हैं एवं प्रतिदिन धर्म्म, अर्थ और काम के साधन के उपाय एवं प्रणाली का चिन्तन सर्वतोभाव से उत्कर्ष साधक है तथापि नित्य २ इन सब बातों की आवृत्ति

× हृषीकेश शब्द का आध्यात्मिकपक्ष मे जो अर्थ होता है सो इस नीचे लिखे श्लोक में कहा गया है।

हृषीकाणि नियम्याहं यतः प्रत्यक्षतांगतः। हृषीकेश इति ख्यातो नाम्नातत्रैव संस्थितः॥

हृषीक जो इन्द्रिया है उनको वशीभूत कर प्रत्यक्ष हुआ हूं, इस कारण मे हृषीकेश नाम से प्रसिद्ध होकर वहीं [अन्तःकरण मे] स्थित हूं।

एवं इसी शब्द का आधिदैविक और आधिभौतिक पक्ष में यह अर्थ होता है—हृष्टाजगत्प्रीतिकरा रश्मयो यस्य सहृषीकेशः सूर्यः। जगत् को प्रसन्न करनेवाली जिसकी किरणे हैं उस सूर्य का नाम हृषीकेश है।

एवं चिन्तन क्रमशः अनिश्चितकर, मौरि॰ एव गम्भीर (ओच्छा) हो जा सक्ता है । यह आपात कुछ नहीं है अतएव त्याज है । जो उत्कृष्ट है उसके अनुष्ठान से अवश्य ही शुभफल होता है । सत् अनुष्ठान के अभ्यास से ही चरित्र की उत्कर्षता होती है । इसके अतिरिक्त मन को जागृतभाव में रखने के लिये सचेष्ट रहने में ये सब उच्च भावनायें दिन २ अत्यन्त गम्भीर होती जाती हैं एवं दिन २ सत्वगुण के बढ़ाने वाली हो उठती हैं । सत्य एवं उन्नत वस्तु का गुण ही यह है कि वह कभी पुरानी या सुस्वाद शून्य नहीं होती ।

रात्रि के अन्तमे निद्रा त्यागकर जगत् में धर्मार्थादि का विकास जो अनुक्रम पूर्वक हुआ है उसका आद्योपान्त स्मरण कर समस्त दिन के करणीय धर्मार्थ काम साधक कार्यों को स्थिर रूप में निश्चित कर " प्रियदत्तायै भूम्यै नमः " कहकर पृथ्वी को प्रणाम करना और मुख में जल [illegible] अर्थात [illegible] कर [illegible] के लिये जाना चाहिये । [illegible] अवश्यक है कि आचार अभ्यास की [illegible] । जो [illegible] दिन किया और फिर नहीं किया, [illegible] सक्ता । प्रातःकाल मलमूत्र का त्याग [illegible] शास्त्र [illegible] मे ही निर्दिष्ट हुआ है । वह प्रतिदिन का कार्य है एवं [illegible] करना होता है ।

यहा पर शास्त्रविधि के साथ स्वभाविकवादी लोगों का एक विरोध उपस्थित होसक्ता है । वे कह सक्ते हैं कि ऐसे सब विषयों मे शास्त्रविधि का कोई प्रयोजन नहीं है । जब शरीर धर्म्म के अनुसार मलमूत्र के त्यागका प्रयोजन स्वतःही होता है तब उसके समय निर्देश के लिये प्रयास करने का काम ही क्या है ? किन्तु उनकी यह बात अग्राह्य है । मनुष्य सामाजिक जीव है । मनुष्य के कार्य्य भी अनेक हैं एवं उसे एकाग्र होकर अन्यान्य मनुष्यों के साथ मिलकर एक साथ अनेक कार्य करने होते हैं । पशु पक्षी आदि के समान मनुष्य लोग सबही समय एव सबही अवस्थाओं मे मलमूत्रादि का त्याग नहीं कर सक्ते । इसी कारण इस कार्य्य के लिये एक समय निर्दिष्ट कर रखना आवश्यक है । दिन कृत्य के प्रारम्भ का समय ही

इसके लिये सब प्रकार से उपयुक्त है । और भी एक बात है । जीव शरीर की प्रकृति यही है कि चेष्टामात्र से ही शरीर के रसका शोषण होता है । इसी कारण दिन चढ़ने पर काम काज करने से अन्त्रगत मलका दूषित रसभी कुछ शोषित होकर प्रवहमान रक्तके साथ सम्मिलित होसक्ता है । जो लोग अधिक बेला होजाने पर शौच को जाते हैं उनका मल अपेक्षाकृत कुछ कठिन होजाता है एवं उनके मुख और शरीर से प्रायः दुर्गन्ध निकलने लगता है । वास्तव में मलका रसभाग उनके शरीर में सूख जाता है । इसी कारण बहुत प्रातःकाल में मल मूत्र के त्याग की विधि जैसे कामकाज के लिये सुविधाजनक है वैसे ही पवित्रता और स्वास्थ्य रक्षा के भी अनुकूल है ।

मनुष्यका शरीर बहुत सहज में ही इस अभ्यास को ग्रहण कर सक्ता है । अनेकानेक भद्र परिवार की प्राचीना स्त्रियां बच्चों को नित्य प्रातःकाल ही एकबार शौच के लिये बिठलाती हैं । पहले पहल कई दिनतक शौच नहीं होता, किन्तु धातुभेद में सप्ताह या दश दिन या महीने से कुछ अधिक समय तक नियमितरूप से अभ्यास करते रहने से शौचका समय स्थिर होजाता है । युवा और प्रौढ़ लोग भी चेष्टा करने से ऐसा फल प्राप्त कर सक्ते हैं । शरीर अभ्यासका ही दास है । कोई सत् अभ्यास पुरुष परम्परागत होने से वह शरीर का साथी या स्वाभाविक नियम हो जाता है । ब्राह्मण पण्डित मात्र ही शास्त्राचार के वशीभूत होकर बहुत प्रातःकाल में शौच के लिये जाते हैं । यह आचार उनके पुरुषानुक्रम से अभ्यस्त है । उनके रोगपीड़ित होने पर भी इस अभ्यास की कार्यकारिता एकबारगी विलुप्त नहीं होती एवं उससे चिकित्सा की सुविधा एवं आरोग्य विधानकी यथेष्ट सहजता होती है ।

मलमूत्र त्याग के सम्बन्ध में और भी कई एक शास्त्र की आज्ञाएं हैं । उनमें यहां पर कुछ का उल्लेख करते हैं । (१) "वेगरोधो न कर्त्तव्यः "—वेग को न रोकना चाहिये । (२) "वाचंनियम्ययत्नेनष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः "—बोले नहीं, थूके नहीं, ऊर्द्धश्वास न छोड़े; इन बातों का यत्न पूर्वक पालन करना चाहिये (४) "वाटवग्निविप्रामादित्य मपोऽपश्यन तथैवच" वायु, अग्नि, आदित्य जल और

विप्र (और पूज्यजनों) के सामने थूकना या मलमूत्र का त्याग करना निषिद्ध है। (४) "तिष्ठेन्नातिचिरंतस्मिन्नैव किञ्चिदुदीरयेत्"— जिस स्थान पर मलमूत्र का त्याग करे वहां पर बहुत कालतक न ठहरे एवं कोई बात न करे। इन नियमों में से प्रथम द्वारा वेग को रोकने का निषेध किया गया है। इस बात में सभी देशों के चिकित्साशास्त्र सहमत हैं। वेग को रोकने से जो अनेकानेक कठिन पीड़ाएं उपजती हैं सो सभी जानते हैं। द्वितीय एवं तृतीय नियम के मूल में अन्यान्य बातों के साथ गूढ़तमें स्वास्थ्य का नियम भी निहित है। शरीर के ऊर्द्धभाग में जो सब स्नायु विद्यमान हैं उनका परिचालन होने से शरीर के अधोभाग में निहित स्नायु समूह का कार्य्य मन्द पड़जाता है। स्नायु का कार्यमन्द पड़ने से 'पेशी' का कार्य्य भी दुर्बल या शिथिल होजाता है। किन्तु निहार या मलमूत्र के त्याग के समय शरीर के अधोभाग में अवस्थित पेशी समूह की कार्यकारिता ही आवश्यक है। उनकी सम्यक् कार्य्यकारिता बिना कोष्ठशुद्धि में व्याघात होता है। अतएव शरीर के ऊर्द्धभाग में अवस्थित स्नायुसमूह के कार्य्य की मात्रा जिसमें अति अधिक न हो वही करना आवश्यक है। इसी कारण मलमूत्र त्याग के समय अति उज्वल या सचल या सबल वस्तु के दर्शन, स्पर्श आदि एवं वाक्यालाप आदि कार्य्य निषिद्ध हैं। दर्शन, स्पर्श एवं वाक्यालाप आदिकार्यों से ऊर्द्धगत स्नायु-मण्डल समधिक सञ्चालित होता है। सूक्ष्मदर्शी व्यक्तिमात्र ही समझ सक्ते हैं कि शौच शुद्धि के लिये ऊर्द्धगत व्यापार मात्रही कुछ न कुछ व्याघातकारी होते हैं।

शास्त्र में मलमूत्र त्याग का स्थान जैसा निर्दिष्ट हुआ है उसके अनुसार कोई पुष्करिणी में, पुष्करिणी के तटपर, जहां गौवें चराई जाती हों वहां अथवा जिस बिल में कोई जीवजन्तु रहता हो उसमें मलमूत्र त्याग नहीं कर सक्ता। लोगों के रहने के घर जहां हों वहां से दूर पर हटकर मृत्तिका में गर्त्त बनाकर उसमें मलमूत्रादि का दबा देना ही शास्त्रविहित है। देहात में ग्रामों में प्रत्येकव्यक्ति इसविधि का भलीभांति पालन कर सक्ता है।

मलमूत्र त्याग के उपरान्त शौचविधि के पालन की व्यवस्था है। वह व्यवस्था स्थूलरूप से निम्न लिखित दो श्लोकों में वर्णित है—

(१) वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविण्णखाः ।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदोद्वादशैते नृणांमलाः ॥

१ वसा २ शुक्र ३ रक्त ४ मज्जा ५ मूत्र ६ विष्ठा ७ कान का मैल ८ नख ९ श्लेष्मा १० अश्रुजल ११ नेत्रमल १२ स्वेद मनुष्य के शरीर में ये बारह मल होते हैं ।

(२) आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये ।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्ध्यति ॥

उल्लिखित बारह मलों में से प्रथम छः मलों की शुद्धि के लिये मृत्तिका और जल दोनों का प्रयोजन है और शेष छः मलों की शुद्धि की केवल पवित्र जल से ही होती है ।

अतएव शास्त्रानुसार मलमूत्र त्याग के अनन्तर मृत्तिका और जल दोनों से शौच करना चाहिये * केवल जलशौचमात्र करने से शुद्धि नहीं होती । इसके अतिरिक्त जिस प्रकार की मृत्तिका लेकर शौच करना चाहिये, शास्त्र में उसका भी निर्देश किया गया है ।

वल्मीकमूषिकोत्खातां मृदमन्तर्जलां तथा ।
शौचावशिष्टां गेहाच्च नादद्याल्लेपसम्भवाम् ॥

अर्थात् दीमक की मिट्टी, मूषक की खोदी, जल के भीतर की, अन्य किसी के शौच से बची हुई एवं गृह के लीपने से सञ्चित मृत्तिका न लाना चाहिये । अर्थात् जो भीगी हुई चिकनी या किसी प्रकार प्राणी अथवा उद्भिद् शरीर से सम्बन्ध न रखनेवाली हो, ऐसी विशुद्ध मृत्तिका सावधानता पूर्वक शौच के लिये लेनी चाहिये । उद्भिद् एवं प्राणी शरीर तैलवत पदार्थ का संयोग अवश्य २ रहता है । इसीलिये उससे सम्बन्ध रखनेवाली मृत्तिका शौचकार्य्य के लिये अप्रशस्त या निषिद्ध है । क्योंकि विष्ठा में भी तैलवत् पदार्थ पित्त का संयोग होता है । साबुन का व्यवहार भी इसी कारण निषिद्ध है ।

फलतः विष्ठा और मूत्र ये दोनों शरीर के बहुत ही दूषित पदार्थ हैं । किन्तु मृत्तिका शौच से ही इनका दोष भलीभांति मिट सक्ता है

* बहुत लोग नहीं जानते कि मुसलमानों के शास्त्र में दैनिक सब कार्य्यों के लिये भी दृढबद्ध नियमावली है । मूत्र के उपरान्त जल लेना, मृत्तिका से शौच, हाथ पैर धोने का नियम भक्ष्याभक्ष्य का विचार आदि विषयों के लिये उनके शास्त्र में बहुत कुछ विधिनिषेध वर्णन किया है । यवन लोग भी म्लेच्छों की भांति स्वेच्छाचार परायण नहीं हैं ।

अन्य किसी प्रकार से वैसी शुद्धि नहीं होती। पृथ्वी के अन्य सब लोगों की अपेक्षा भारतवासी ब्राह्मण लोग ही अधिकतर शौचाचार परायण हैं! शौच या शुद्धि के प्रति ऐसा स्थिर लक्ष्य होने से पवित्रता के प्रति भी उनका हृदय आकृष्ट है।

शौच के अन्त में हाथ पैर धोकर आचमन करना चाहिये। दन्तधावन के पहले का आचमन केवल सामान्य कुल्लामात्र है उस आचमन की प्रकृति निम्न लिखित श्लोक में व्यक्त की गई है।

गङ्गांपुण्यजलांप्राप्य चतुर्द्दशविवर्जयेत् ।
शौचमाचमनं केशनिर्म्माल्यं मलघर्षणम् ॥

पवित्र जलवाली गङ्गा में शौच, आचमन (अर्थात् मुखशोधनार्थ कुल्ला करना) केश निर्माल्य डालना और शरीर का मैल छुड़ाना आदि चौदह कर्म्म न करने चाहिये। शुचिता सम्पादन के लिये शास्त्रीय आचमन का अनुष्ठान अत्यन्त प्रशस्त है। ऐसा कोई वैधकार्य ही नहीं है जिसके आदि और अन्त में आचमन करने की विधि न हो।

आचमन का मन्त्र अत्यन्त उन्नत आध्यात्मिक जीवन के लाभ का मार्ग दिखलाता है। वह मन्त्र प्रणव के साथ तीनवार विष्णु के नाम का उच्चारण कर प्रणवयुक्त—"तद्विष्णोः परमंपदं सदापश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्" यह वाक्य है। "ज्ञानी लोग विष्णु (सर्वव्यापक) के उस विश्वप्रकाशक परमपद (स्वरूप) को सर्वदा देखते हैं, जैसे आकाश में व्याप्त चक्षु (सूर्य्य) को नित्य ही (वही परमपद) देखते रहते हैं"। उक्त मन्त्र का यही अर्थ है। और भी, आचमन प्रक्रिया में शरीर के आठ भागों का एक २ करके स्पर्श करना होता है; यथा—

खंमुखेनासिके वायुनेत्रेसूर्यः श्रुतीदिशः ।
प्राणग्रन्थिमथोनाभौ ब्रह्माणंहृदये स्पृशेत् ॥
रुद्रंमूर्द्धिमालभ्य प्रीणात्यथशिखामृषीन् ।

अर्थात् मुखविवर में आकाश, नासिका के दोनों छिद्रों मे वायु, चक्षु में सूर्य, दोनों कानों मे दिशा, नाभि देश में प्राणग्रन्थि, हृदय मे ब्रह्मा, शिर में रुद्र एवं शिखा मे स्थिति ऋषिगण को स्पर्श पूर्वक प्रसन्न करे। तब आचमन करनेवाले ज्ञानी का अपना शरीर ही जैसे प्राकृ-

तिक देव देहरूप से प्रतीयमान होने के योग्य होजाता है एवं वह मूलमन्त्र द्वारा आकाश स्थित चक्षु (सूर्य) के समान सर्वदा सर्वव्यापक उस परमपद को देखने लगता है। उसके देह में, चित्त में और बुद्धि में कहीं भी फिर अपवित्रता के लिये स्थान नहीं रहता। जगत् चक्षु सूर्य्य के पद में अपने को अवस्थापित देखने का अभ्यास होजाने से आन्तरिक मल के मुख्य उपादान जो क्षुद्रता, संकीर्णता एवं एकदेश दर्शिता आदि हैं वे अवश्य ही दूर होजाते हैं।

वास्तव में आचमन मन्त्र के भावग्रहण पूर्वक उसका (आचमन का) अभ्यास होते ही श्रुति में उक्त " योसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि "—(अर्थात् जो यह आदित्यमण्डल मे पुरुष है सो मैं हूं) इस तत्व ज्ञान की उपलब्धि होती है। द्वैत बोध से अद्वैत ज्ञान की प्रवृत्तिका आरम्भ होता है। आचमन का अभ्यास बड़ा ही उन्नत विषय है एवं इसी कारण इसके बार २ करने की विधि दीगई है।

प्रातःकृत्य के मध्य में दन्तधावन की भी व्यवस्था है। दन्तधावन के लिये जिस प्रकार का काष्ठ प्रशस्त है सो निम्न लिखि दो श्लोकों में कहा गया है।

(१) तिक्तं कषायंकटुकंसुगन्धिकण्टकान्वितम्।
क्षीरिणोवृक्षगुल्मानां भक्षयेदन्तधावनम्॥

तिक्त, कषाय, कटु, सुगन्धयुक्त, कंटकयुक्त एवं दुग्धविशिष्ट वृक्ष गुल्म (झाड़ी) आदिका काष्ठदतून बनाने के लिये प्रशस्त है। तदनुसार—

(२) खदिरश्चकदम्बश्चकरञ्जश्चतथावटः।
तिन्तिड़ीवेणुपृष्ठञ्चआम्रनिम्बौतथैवच॥
अपामार्गश्च विल्वश्चअर्क श्चोदुम्वरस्तथा।

खदिर, (खैर) कदम्ब, करञ्ज, बट (बर्गद), तिन्तिड़ी (इमली), वंशखण्ड (बांस की खपची), आम्र, निम्ब, अपामार्ग (लटजीरा), बिल्व, मदार और उदुम्बर (गूलर) के काष्ठ की दतून करनी चाहिये।

दन्तधावनकाष्ठ का एक मन्त्र है, यथा—

आयुर्बलंयशोवर्च्चः प्रजाः पशु वसूनिच।
ब्रह्मप्रज्ञाञ्चमेधाञ्चत्वन्नोदेहि वनस्पते॥

अर्थात् हे वनस्पति ! तुम हमको आयु, बल, यश, तेज, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्मज्ञान और बुद्धि प्रदान करो ।

विश्वब्रह्माण्ड के असीम अनेकत्व के मध्य में सदैव उसी ध्रुव एकत्व का अनुभव कर सकनेवाले आत्मदर्शी आर्य्य महर्षिगण ही इस बातको समझते थे कि सामान्य दन्तधावनकाष्ठ भी ब्रह्मज्ञानलाभ के पक्ष में अनुकूलता कर सक्ता है ।

दन्तधावन के सम्बन्ध में और जो कई एक नियम हैं उसको संक्षेप से यहां पर कहते हैं ।

(१) श्राद्धेजन्मदिनेचैव विवाहेऽजीर्णसम्भवे ।
ब्रतेचैवोपवासेचवर्जयेद्दन्तधावनम् ॥ ×

श्राद्ध के दिन, जन्म के दिन, विवाह के दिन, अजीर्ण होजाने पर, ब्रत में और उपवास के दिन दन्तधावन (दतून) न करना चाहिये।

(२) दन्तधावनमद्यात् प्राङ्मुखउदङ्मुखोवा ।
पूर्व या उत्तर की ओर मुखकर दन्तधावन करना चाहिये ।

(३) चतुर्द्दश्यष्टमीचैव अमावास्याथपूर्णिमा ।
पर्व्वाण्येतानिराजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेवच ॥

(४) पर्व्वस्वपितु दन्तधावनंवर्ज्जयेत् ।

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा एवं सूर्य की संक्रान्तिका दिन ये पर्व्व दिन हैं । इन पर्व दिनों में दन्तधावन काष्ठ का व्यवहार न करना चाहिये ।

(५) तृणाङ्गारक पाश्मवालुका यसचर्मभिः ।
दन्तधावनकर्त्तारो भवन्तिपुरुषाधमाः ॥

तृण, अङ्गार, कपाल (मिट्टी के पात्र आदि के टूटे टुकड़े) पत्थर, बालू, लौह एवं चर्म द्वारा दन्तधावन करनेवाले पुरुषाधम होते हैं ।

(६) त्यक्त्वाचानामिकाङ्गुष्ठौवर्ज्जयेद्दन्तधावनम् ।

अनामिका एवं अंगुष्ठ भिन्न अन्य किसी अंगुली के द्वारा दन्तधावन न करना चाहिये ।

इनमें से प्रथमोक्त श्लोक द्वारा, व्रताशौच होने से जिन सब दिनों में निर्दिष्ट कार्य्यका व्याघात होता है उन्हीं दिनों में दन्तधावन

× मुसल्मानों के शास्त्र मे भी उपवास के दिन दन्तधावन करना मना है ।

का निषेध किया गया है। और अजीर्ण के होने पर भी दन्तधावन करना निषिद्ध कहा है। अजीर्ण दोष में दन्तधावन करने से "वमन" का उद्रेक होता है एवं अजीर्ण की वृद्धि भी होसकती है। द्वितीय एवं तृतीय श्लोक के वैज्ञानिक तात्पर्य को समझना, पाश्चात्य विज्ञान की अधिकतर उन्नति की अपेक्षा रखता है। भारतवर्ष जिस अक्षांश के मध्य में अवस्थित है तदनुसार इस देश में उत्तर और सिरहाना करके सोने का दोष विज्ञान द्वारा प्रतिपन्न प्राय होउठा है; इसीलिये जान पड़ता है कि विज्ञान, अपने और भी कुछ बड़े होने पर पूर्वमुख और उत्तरमुख होकर दन्तधावन करने की उपकारिता को भी समझ सकैगा ×। और पूर्णिमा एवं अमावास्या आदि तिथियों के भेद के अनुसार मनुष्य शरीर में रोग प्रबलता की न्यूनाधिकता होती है, इस बात का अनुभव बहुकाल के उपरांत पाश्चात्य विज्ञान को हुआ है; सुतरां कालक्रम से वही विज्ञान मनुष्य देह पर होनेवाले अन्यान्य तिथियों के भी प्रभाव को समझैगा एवं उसे समझकर उन तिथियों के उपयोगी अनुष्ठान के निदान को देख पावेगा। यह भी अनुभव योग्य है। पांचवें श्लोक के द्वारा दो बातों की प्रतिपत्ति होती है। एक बात यह कि दन्तधावन कार्य के लिये कई एक वस्तुए दूषित हैं, दूसरी बात यह कि दन्तधावन कार्य्य को बलपूर्वक घर्षण द्वारा न निष्पन्न करना चाहिये। ब्राह्मण शुचिहों-यही केवल शास्त्र का उद्देश्य है शौचसंशयी होना शास्त्र का ऐसा उद्देश्य नहीं है। इसी लिये जान पड़ता है दुर्बल अनामिका अंगुली द्वारा दन्तधावन करने की विधि है और तर्जनी, मध्यमा आदि प्रबल अंगुलियों के व्यवहार का निषेध है। दन्तून के प्रान्तभाग को स्वयं दांतों से चबाकर या पत्थर आदि से कुल उसके द्वारा दन्तधावन करना होता है, यह भी फलबलतः लभ्य है। अधिक दांत खोदने का स्पष्ट निषेध किया गया है।

× पृथ्वी स्वय एक विशाल चुम्बक है। इसका चौम्बकत्व सभी समय सब के प्रति कार्यकारी है। अमेरिका देश के चौम्बक उद्भिद इसी पार्थिव बल के प्रभाव से ही दिन और रात्रि के विभिन्न समयों मे विभिन्न ओर पत्तों का मुख फिराकर उपजते हैं। इसी चौम्बक बल का अनुकूल करने के लिये ही क्या विशेष २ कार्य के समय मुख फिराने की और शयन के समय विशेष २ ओर शिर करके सोने की व्यवस्था की गई है।

दन्तलग्नमसंहार्य्यंलेपम्मन्येत दन्तवत् ।
न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नमुद्धरणे पुनः ॥

दान्तों में लगे हुए असंहार्य (जिह्वा द्वारा न छूटनेवाले) लेप को दन्ततुल्य मानना चाहिये और फिर उसे छुड़ाने के लिये अधिक प्रयास न करना चाहिये । तात्पर्य्य यह कि दन्ततुल्य होने से उस अंश में अपवित्रता नहीं होती ।

जिन पर्व दिन आदि में काष्ठ की दन्तून करने का निषेध है उनमें दो प्रकार अनुकल्प की व्यवस्था है । ऐसे अवसर में (जब कि काष्ठ द्वारा दन्तधावन निषिद्ध हो) पत्र द्वारा दन्तधावन किया जाता है द्वादशवार जल से कुल्ला करलेने से भी काम चल सक्ता है ।

किन्तु दिन भेद के अनुसार काष्ठकी दन्तून द्वारा दन्तधावन करने की विधि और निषेध रहने पर भी जिह्वोल्लेख (जीभी) करने का निषेध कभी नहीं है । जिह्वोल्लेख कार्य्य मे निम्न लिखित तृणराज अर्थात् ताल जातीय वृक्षों का व्यवहार निषिद्ध है—

गुवाकतालहिन्तालो तथा ताडी च केतकी ।
खर्ज्जूरनारिकेलौच सप्तैते तृणराजकाः ॥

अर्थात् गुवाक (सुपारी), ताल हिन्ताल, ताड़, केत, खजूर एवं नारिकेल (नारियल) इन सात को तृणराज संज्ञा है ।

दन्तधावन करते समय वार्तालाप न करना चाहिये । अधिक बेला बिताकर दन्तधावन करना भी निषिद्ध है । इस समय देखा जाता है कि कोई २ मध्यान्ह स्नान के समय पर्यन्त विलम्ब करके दन्तधावन करते हैं । उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

मध्यान्हस्नानकालेष यः कुर्य्याद्दन्तधावनम् ।
निराशास्तस्यगच्छन्ति देवाः पितृगणैः सह ॥

मध्यान्ह स्नान के समय जो व्यक्ति दन्तधावन करता है, पितृगण सहित देवगण उसके निकट से निराश होकर लौट जाते हैं । अतएव प्रातःकाल ही दन्तधावन करना चाहिये ।

नेत्र धोने की शास्त्रोक्त रीति यह है कि मुख के भीतर शीतल जल रखकर दोनों नेत्र धोने चाहिये । बिना प्रक्षालन किये एक हाथ

से दोनों नेत्रों को धोना निषिद्ध है । ऐसा करने से शुचिता की रक्षा नहीं होती ।

अशुचिता का बड़ाभारी दोष है । शास्त्र में स्पष्ट ही यह बात लिखी है ।

स्नानं दानंतपस्त्यागोमन्त्रकर्म्मविधिक्रियाः ।
मङ्गलाचारनियमाः शौचभ्रष्टस्यनिष्फलाः ॥

अर्थात् जो पुरुष शौच भ्रष्ट है उसके स्नान, दान, तप, त्याग, मन्त्रजप, कर्म, विधि, क्रिया, मंगलाचार, नियम आदि सभी निष्फल हैं।

शुचिता के एकान्त पक्षपाती आर्य्य शास्त्र का अपने सर्वप्रधान अनुष्ठान अर्थात् स्नान (१) के प्रति विशेष दत्तचित्त होना सहजही समझा जासक्ता है ।

अस्नात्वा नाचरेत्कर्म्मजपहोमादि किञ्चन ।
लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान् ॥
अत्यन्तमलिनः कायोनवच्छिद्रसमन्वितः ।
स्रवत्येव दिवारात्रौप्रातःस्नानाद्धि शुद्ध्यति ॥

सोकर उठा हुआ पुरुष लाला (राल), स्वेद आदि से अशुद्ध शरीर द्वारा जप होम आदि किसी भी विधि विहित कर्म्म को बिना स्नान किये न करै । नव छिद्र युक्त यह शरीर अत्यन्त अशुचि है, क्योंकि दिन रात इसमें से कुछ न कुछ अपवित्र पदार्थ निकला ही करता है। प्रातः स्नान द्वारा इस शरीर की शुद्धि होती है ।

वस्तुतः रोगातुर व्यक्ति को छोड़कर सभी के लिये प्रातः स्नान करने का आदेश है । गृहस्थ के लिये नित्य दो बार एवं अन्य तीन आश्रमवालों के लिये नित्य तीन बार स्नान करने की विधि है। उनमें प्रथम स्नान ही प्रातःस्नान है । अरुणोदय का समय उसका मुख्य काल है । नाभि पर्यन्त जलमें प्रवेश कर दोनों हाथों से मुख, नासिका चक्षु, एवं कानों के द्वारों को बन्दकर पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर

(१) जिन सब देशों में आचार शिक्षा विषयक शास्त्र नहीं हैं वहां के सब लोग कैसे अशुचि रहते है सो हम लोगों ने स्वप्न में भी न देखा होगा । एक फरासी पंडित ने गर्व के साथ कहा है कि उनके देश के लोग अनुमानतः दो वर्ष में एक बार स्नान करते हैं । उन्हों ने ही कहा है कि इङ्गलैण्डवासी लोग प्रायः तीन वर्ष में और जर्मनी के लोग पांच वर्ष में एवं रशिया के लोग छः वर्ष में एकबार स्नान करते है ।

तीन बार शिर से गोता लगाने से यह स्नान सम्पन्न होता है । प्रातः स्नान संक्षेप में ही समाप्त करना होता है । शिर से स्नान करनेका नियम यह है कि यदि स्रोत का जल हो तो जिधर से स्रोत आता हो उधर मुखकर गोता लगाना चाहिये और यदि स्थिर जल हो (बहता हुआ न हो) अथवा गृह में कूपजल हो तो सूर्याभिमुख हो कर शिर से स्नान करना चाहिये । स्नान के समय बात करना और परिधान वस्त्र से देह पोंछना निषिद्ध है ।

उल्लिखित विधि पर कुछ सूक्ष्म दृष्टि करने से ही समझा जाता है कि स्नान के द्वारा केवल पवित्रता होती है इसीलिये शास्त्र में स्नान का इतना आदर नहीं है स्नान की स्वास्थ्यकारिता पर भी सर्व्व दिग्दर्शी शास्त्र की सुतीक्ष्ण दृष्टि है —

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम् ।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करम्परम् ॥

स्नानकर्म पवित्रताजनक, आयु को बढ़ानेवाला, श्रमनाशक, स्वेदनिवारक, मलापहारी, शारीरिक बलको बढ़ानेवाला, केशवर्द्धक और परमतेजस्कर है ।

जिस प्रकार के स्नान से स्वास्थ्यहानि अथवा अन्य किसी प्रकार की हानि होना संभव है वह शास्त्र में निषिद्ध है ।

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
नवासोभिः सहाजस्रंनाविज्ञातेजलाशये ॥

भोजन के उपरान्त, रोगपीड़ित अवस्था में, महानिशा (रातके ९ बजे से ३ बजे तक) में अधिक वस्त्र धारण किये, बहुबार एवं अपरिचित जलाशय में स्नान न करना चाहिये ।

क्षुद्र एवं कृत्रिम जलाशय में भी स्नान करने का निषेध है ।

प्रभूतेविद्यमानेतुउदके सुमनोहरे ।
नाल्पोदके द्विजःस्नायान्नदीञ्चोत्सृज्यकृत्रिमे ॥

द्विजको सुमनोहर विस्तृत गम्भीर जलाशय के रहते स्वल्प जल वाले छोटे जलाशय में एवं नदी को छोड़कर किसी कृत्रिम जलाशय में न स्नान करना चाहिये । समुद्र के जलमें स्नान करने की यथेष्ट प्रशंसा की गई है—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापंकुरुतेनरः ।
मुच्यतेसर्वपापेभ्यः स्नात्वाक्षारार्णवेसकृत् ॥

सहस्र२ जन्मान्तरों में किये हुये मनुष्य के पाप एक बार क्षार समुद्र के जलमें स्नान करने से नष्ट होजाते हैं ।

स्नान के सम्बन्ध में और एक शास्त्र का वचन है, उसका तात्पर्य्य भी सहज में सर्वसाधारणकी समझ में आसक्ता है । वह वचन यह है

स्नातस्य वह्नितप्तेन तथाच परवारिणा ।
कायशुद्धिंविजानीयान् नतुस्नानफलंलभेत् ॥

अर्थात् उष्ण (गर्म) जल और दूसरे के लाये जल से स्नान करने में शरीर की शुद्धि तो होती है किन्तु स्नान का पूर्णफल नहीं होता। तात्पर्य यह कि स्वयं जलाशय में जाकर शीतल जलमें स्नान करने से ही स्नान का सम्पूर्णफल प्राप्त होसक्ता है ।

यहांतक तो अवगाहन स्नान की ही बात कही गई । किन्तु शास्त्रोक्त स्नान सात प्रकार का * होता है । यथा—

मान्त्रंभौमंतथाग्नेयंवायव्यंदिव्यमेवच ।
वारुणंमानसञ्चैव सप्तस्नानंप्रकीर्त्तितम् ॥

[१] मन्त्र विशेष का पाठ करने से मान्त्र स्नान होता है ।
[२] मृत्तिका स्पर्श द्वारा भौम स्नान संपन्न होता है ।
[३] होमाग्नि सम्भूत भस्म के लेपने से आग्नेय स्नान होता है ।
[४] गऊ के पैरों की रजको लेकर प्रवहमान वायु के स्पर्श से वायव्य स्नान होता है ।
[५] आतपयुक्त वृष्टि के जल से दिव्य स्नान होता है ।
[६] जलमें गोता लगाने से वारुण स्नान होता है ।
[७] विष्णुभगवान् के चिन्तन से मानस स्नान होता है ।

जो लोग दिन में तीन सन्ध्याओं में तीन बार अथवा प्रातःकाल और मध्यान्ह में दो बार अवगाहन (जलस्नान) नहीं कर सक्ते वे एकाधिक बार अवगाहन के स्थान पर अन्य छः प्रकार के स्नानों में से किसी एक प्रकार के स्नान को अनुकल्प स्वरूप ग्रहण कर सक्ते हैं। अशक्त एवं रोगी के लिये और भी एक प्रकार का स्नानानुकल्प है। यथा—

* मृत्स्नान भी भौमस्नान का एक प्रकार स्वीकार करते हैं ।

अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौतुकर्मिणाम् ।
आर्द्रेणवाससावापिमार्जनंदैहिकम्विदुः ॥

कर्मनिष्ठव्यक्ति यदि किसी कारणवश स्नान करने में अशक्त हो तो वह शिर को बचाकर स्नान करे अथवा आर्द्र (गीले) वस्त्र से शरीर पोंछकर स्नान का अनुकल्प कर सक्ता है। हमारी निवास भूमि बंगदेश का वायु अत्यन्त सजल है। यहां धातु के अनुसार बहुत लोगों के लिये एक बार से अधिक अवगाहन स्नान करना असह्य हो सक्ता है, जान पड़ता है, इसी कारण से ही रुक्ष पश्चिम प्रदेश की अपेक्षा यहां दो तीन बार जल स्नान करनेवालों की संख्या बहुत न्यून है। यहां प्रातःकाल स्नान करनेवाले लोग मध्यान्ह स्नान के समय जल स्नान के स्थान पर अन्य अनुकल्प स्नान द्वारा स्नान विधि का निर्वाह करते हैं एवं मध्यान्ह स्नान करनेवाले लोग प्रातः स्नान के समय अन्य अनुकल्प स्नान द्वारा स्नान विधि का निर्वाह करते हैं।

जो लोग प्रातःस्नान नहीं करते वे रात के कपड़े उतारकर आचमन और केश प्रसाधन पूर्वक * पवित्र होकर मानस या मान्त्र स्नान + करें।

यावत्तुरात्रिवासोऽस्ति तावद्प्रयतोनरः ।
तस्माद्यत्नेनतत्याज्यमार्द्रो शुद्धिमभीप्सता ॥
आचान्तस्तुततः कुर्य्यात्पुमान्केशप्रसाधम् ।

पुरुष जबतक रात्रि के कपड़े पहने रहता है तबतक अशुचि रहता है। इस कारण पवित्रता कामी व्यक्ति (वैध कर्म के करने में प्रवृत्त होने से) पहले ही रात्रि के पहने वस्त्रों को उतारडाले एवं आचमन के उपरान्त केश संस्कार करे।

इस प्रकार अवगाहन स्नान अथवा तदनुकल्प अन्य कोई स्नान एवं रात्रि वस्त्रत्याग आदि कार्यों को सम्पन्न करने के उपरान्त जल या मृतिका अथवा चन्दन आदि से मस्तक में तिलक लगाना चाहिये

* मुसल्मान लोगों में भी केशप्रसाधन की पवित्रता स्वीकृत है।

+ मान्त्रस्नान का मंत्र सध्योपासनाके अन्तर्गत मार्जन का मन्त्र है। उसका अर्थ यह है—

"हे जल निचय! तुम अत्यन्त सुखदायक हो। इस लोक में (प्रत्यक्ष रूप से) अन्न का उपाय करो और परलोक में (परोक्ष रूप से) परम पदार्थ में सयोजित करना। तुम (बहुत्व से एकत्व प्राप्ति के अनुक्रम पूर्वक) जननी के समान हितकारी हो। हमको अमंगल शून्य मंगलतम रस प्रदान करो। तुम जिस रस द्वारा जगत् को तृप्त करते हो उसी रस (' रसोवैस: ') के द्वारा (तुम निश्चित ब्रह्म रूप मात्र हो) हम को पवित्र करो।"

एवं तदनन्तर देवता, ऋषि तथा (जिसके पितृपक्ष में सब मर चुके हों उसको) पितृगण का तर्पण करना चाहिये।

तर्पण का प्रधान मन्त्र यह है—

" आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तंजगत्तृप्यतु "

अर्थात् ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सब जगत् तृप्त हो।

तर्पण क्रिया को समाप्त कर, आर्द्रवस्त्र उतार कर, हाथ पैर धोकर प्रातःकाल की सन्ध्या करनी चाहिये। सन्ध्या की उपासना अतीव पवित्र है। समस्त विश्व उस ईश्वर का स्वरूप, उससे व्याप्त एवं उससे अभिन्न है—

जातमेतन्मयात्वत्तो यथापूर्वमिदं जगत्।
विष्णुर्विष्णौ विष्णुतश्च नपरंविद्यतेततः॥

उसी (परमसत्य) से मत्कर्तृक यह जगत् यथा पूर्व प्रसूत हुआ है। अतएव यह जगत् विष्णु ही इस जगत् का कारण हैं एवं विष्णु ही इस जगत् का आधार हैं। उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

उसी परमसत्य के साथ मानवात्मा का घनिष्ठ संयोग त्रिकाल सन्ध्या के मन्त्रों में भलीभांति पूर्णरूप से व्यक्त है। बड़े ही क्षोभ की बात है इन सब मन्त्रों का क्या अक्षरार्थ और क्या भावार्थ सभी इस समय अधिकांश लोगों को अविदित है। कार्य के समय स्मरण नहीं होता; सुतरां सन्ध्या कर्म्म का पूर्णफल नहीं प्राप्त होता। सन्ध्या के सम्बन्ध में कहा गया है—

यासन्ध्यासातु गायत्रीद्विधाभूत्वाप्रतिष्ठिता।
सन्ध्याउपासितायेन विष्णुस्तेन उपासितः॥

जो संध्या है वही गायत्री है, एकही दो रूप से अवस्थित है। जो सन्ध्या की उपासना करता है वह विष्णु की ही उपासना करता है। नित्य सन्ध्योपासन करनेवाले के सम्बन्ध में कहा है—

यावज्जीवनपर्य्यन्तंयस्त्रिसन्ध्यांकरोतिच।
सचसूर्य्यसमोविप्रस्तेजसातपमासदा॥
तत्पादपद्मरजसासद्यः पूतावसुन्धरा।
जीवन्मुक्तः सतेजस्वी सन्ध्यापूतोहियोद्विजः॥

यावज्जीवन जो कोई त्रिकाल सन्ध्योपासन करता है वह विप्र

तेज और तप में सदा सूर्य्य के समान है। उसके चरण कमल की रज से पृथ्वी तुरन्त पवित्र हो जाती है। जो द्विज संध्या द्वारा पवित्र है वह तेजस्वी जीवन्मुक्त है।

द्वितीय अध्याय।

नित्याचार प्रकारण।

पूर्वान्ह कृत्य।

रात्रि के ४॥ बजे से प्रातःकाल ६ बजे तक प्रातःकृत्य का समय है तदनन्तर दिनकृत्य का आरम्भ है ×।

दिन कृत्यके प्रथम भाग में अर्थात् ६ से ७॥ बजेतक प्रथम यामार्द्ध में देवालयमार्जन आदि कार्य्य, गुरु और मांगलिक पदार्थों को देखना, केशप्रसाधन दर्पण में मुख देखना एवं पुष्पसंचय कर्तव्य है। ७॥ बजे से ९ बजे तक द्वितीय यामार्द्ध में वेदाभ्यास करने की आज्ञा है। वेदाभ्यास के पांच विभाग हैं—(१) वेद स्वीकरण अर्थात् गुरू के समीप रहकर सुनना, (२) वेद विचार अर्थात् तर्कपूर्वक आलोचना करना, (३) वेद का अभ्यास अर्थात् पुनः २ आवृत्ति करना, (४) वेद का जप अर्थात् मानसचिन्तन, (५) वेद का ध्यान अर्थात् पढ़ाना।

जो ब्राह्मण जिस वेद एवं जिस वेद शाखा के अन्तर्गत है उसे अपने पाठ्य भाग या स्वाध्याय का अध्ययन न कर अन्य शास्त्रादि की आलोचना न करनी चाहिये (इस समय में इस कृत्य का अनुकल्प गायत्री जप है)। स्वाध्याय पाठ के समाप्त होने पर स्मृति या धर्म्मशास्त्र एवं वेदशाखा जो व्याकरणादि ग्रन्थ उनका अध्ययन किया जा सक्ता है।

शास्त्राध्ययन के लिये यही द्वितीय यामार्द्ध का समय अत्यन्त प्रशस्त है। शरीर शुचि होचुका, मनोवृत्ति सतेज हो उठी एवं स्नान तर्पण सन्ध्यापूर्ण होगया, ऐसे समय शास्त्र की आलोचना मे अधिक मन लगेगा, स्मृतिशक्ति के प्रबल होने के कारण उत्तमरूप से स्मरण रहैगा, शास्त्रोक्त सब उदारभाव सहजही हृदय में स्थान पावैंगे एवं

× मुसलमानों मे भी नमाज और कुरान का पाठ बहुत सवेरे ही से किया जाता है।

शास्त्रचिन्ता का क्लेशभाव अल्प होगा । आर्य्य ऋषिगण दिन के इस सर्वोत्कृष्ट भाग को विद्योपार्जन में बिताने की विधि बना गये हैं विद्या के प्रति उनका बड़ाही समादर था । उनके मतानुसार वेदाभ्यास सर्वोत्तम तपस्या है ।

वेदाभ्यासोहि विप्राणांपरमंतप उच्यते ।
ब्रह्मयज्ञः सविज्ञेयः षडङ्गसहितश्चयः ॥

वेदाभ्यास ही ब्राह्मणों का परमतप कहा जाता है; षडङ्ग सहित वेदाभ्यास को ब्रह्मयज्ञ जानना चाहिये ।

अन्यान्यशास्त्रों के अध्ययन के सम्बन्ध में भी कहा गया है—

दानेनतपसा यज्ञैरुपवासैर्व्रतैस्तथा ।
नतांगातिमवाप्नोति विद्यया यामवाप्नुयात् ॥

विद्या से जो उत्तम गति मिलती है वह दान, तप, उपवास तथा व्रत आदि से नहीं मिलती । तात्पर्य्य यह कि यावत् विद्याएं आदर की सामग्री हैं । जिस किसी से वेदार्थ का बोध हो उसी का गौरव करना चाहिये ।

संस्कृतैःप्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः ।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् सगुरुः स्मृतः ॥

क्या संस्कृत, क्या प्राकृत, क्या देशप्रचलित भाषा, जिस उपाय से हो जो शिष्य को वेदानुरूप शिक्षा द्वारा बोध दे वही गुरु है । अतएव देशभाषा आदि का साक्षात् पढ़ाना अथवा उस भाषा में ग्रन्थ रचकर लोगों को शिक्षा देना इसी द्वितीय यामार्द्ध के विधिबोधित कृत्य के अन्तर्गत है ।

ग्रन्थ रचना जैसे विहित कार्य है वैसे ही ग्रन्थ लिखना और बांटना भी ज्ञानचर्चा के अनुकूल व्यापार होने के कारण परमप्रशंसनीय है।

इतिहासपुराणानि लिखित्वायः प्रयच्छति ।
ब्रह्मदानसमंपुण्यं प्राप्नोतिद्विगुणीकृतम् ॥

जो कोई इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों को लिखकर (या छपाकर) बांटता है उसे ब्रह्म (वेद) दान से द्विगुण पुण्य होता है ।

विद्या की शिक्षा प्राप्तकर उसका दान करना अत्यन्त आवश्यक है । श्रुति कहती है—

" योऽरहरधीत्य विद्यामर्थिभ्योमप्रयच्छेत्म
कार्य्यहास्यात् कोय ो ग्गरमावृणुयात् "

जो कोई स्वयं नित्यप्रति विद्या भ्यास करता हुआ विद्यार्थीको विद्यादान नहीं देता वह कार्य्यनाशक है, वह मंगल के द्वार को अवरुद्ध करता है ।

विद्या के आदान प्रदान से सम्बन्ध रखनेवाली कई एक आर्य्य-नीतियां जानने योग्य हैं ।

(१) यो गुरुं पूजयेन्नित्यं तस्यविद्याप्रसीदति ।
तत्प्रसादेन यस्मात्मप्राप्नोति सर्वसम्पदः ॥

जो व्यक्ति नित्य गुरू की पूजा करता है उस पर विद्या प्रसन्ना होती है । गुरु के अनुग्रह से ही समग्र सम्पत्तियों का (हेतु स्वरूप विद्या का) लाभ होता है ।

(२) विस्मरेच्चतयामौढ्यात् योऽपिशास्त्र मनुत्तमम् ।
सयातिनरकं घोरं अक्षयं भीमदर्शनम् ॥

मूढ़तावश जो कोई शास्त्र को पढ़कर फिर भूल जाता है उसे चिरकाल तक भीमदर्शन घोर नरक में रहना पड़ता है ।

(३) यश्चविद्यामासाद्य तयाजीवेत्ततस्यपर-
लोकेफलप्रदाभवति यश्चविद्ययापरेषांयशोहन्ति ।

जो कोई विद्या प्राप्त कर उसके द्वारा धनोपार्जन करता है (छात्रों को पढ़ाकर पारिश्रमिक वेतन लेता है) उसे उस विद्या का पारलौकिकफल नहीं प्राप्त होता । और जो कोई विद्या द्वारा अन्य के यश को नष्ट करता है । अपमानित करता है उसको भी विद्या परलोक में फल दायिनी नहीं होती ।

(४) उपाध्यायस्य योवृत्तिंदत्वाध्यापयतिद्विजान् ।
किन्नदत्तंभवेत्तेन धर्म्मकामार्थमिच्छता ॥

त्रिवर्ग साधनाभिलाषी जो पुरुष अध्यापक को निर्वाहार्थ वृत्ति देकर द्विजबालकों के पढ़ने का प्रबन्ध करदेता है उसने क्या नहीं दिया ?

द्वितीय यामार्द्ध में शास्त्र की आलोचना कर तृतीय यामार्द्ध में अर्थात् ९ बजे से १०॥ बजे तक पोष्य परिवार के लिये प्रयोजनीय अर्थ के साधन की चेष्टा करनी चाहिये । पूर्व समय से इस समय

हमारी अवस्था में बड़ा अन्तर होगया है। उस समय केवल डेढ़ घंटे भर यत्न करने से ही पर्याप्त अर्थ चिन्ता और अर्थोपार्जन होता था और इस समय आठो पहर धनोपार्जन की चिन्ता में लगे रहने पर भी पूरा नहीं पड़ता। जिस समय धनवान् थे, उस समय लोभ न था, और इस समय माथे का पसीना पैर तक आने पर भी बहुत कुछ नहीं होता तथापि भोग सुख की इच्छा एवं धन के लोभ से दिन दिन प्रज्वलित होते हैं। उस समय निज के लिये कुछ भी न करने की शिक्षा दी, दिलाई जाती थी, इस समय निजके अतिरिक्त अन्य किसी के लिये कुछ न करने की शिक्षा प्रबल होती जाती है।

शास्त्र कहता है—

सजीवतिवरश्चैको बहुभिर्योपजीवति ।
जीवन्तोमृतकाश्चान्ये पुरुषाःस्वोदरम्भराः ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष और दस पुरुषों की जीविका चलता है उसी का जीवन सार्थक है, अन्य पुरुष जो केवल अपना पेट पाल लेते हैं वे जीते ही मृतक तुल्य हैं।

गृहस्थ ब्राह्मण को अवश्य पोष्य वर्ग के प्रतिपालन के लियेही अर्थ चिन्ता करनी चाहिये। अवश्य पोष्यवर्ग यह हैं: —

माता पिता गुरुर्भार्य्या प्रजादीनासमाश्रिताः ।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गउदाहृतः ॥

माता, पिता, गुरु, भार्य्या. प्रजा (सन्तान), दीन दरिद्र, आश्रितजन, अभ्यागत, अतिथि और (अग्निहोत्र करनेवाले के लिये) अग्नि ये पोष्य हैं।

पोष्यों में भी कुछ के लिये शास्त्र में विशेष बात बताई गई है—

वृद्धौचमातापितरौ साध्वीभार्य्यासुतः शिशुः ।
अप्यकार्य्यशतंकृत्वा भर्त्तव्यामनुरब्रवीत् ।।

मनु ने कहा है कि वृद्ध पिता-माता, साध्वी सती स्त्री एवं शिशु सन्तान सैकड़ों अकार्य्य (निकृष्ट श्रेणी के कार्य्य) करने पर भी प्रतिपालनीय हैं अत्याज्य हैं।

पोष्यवर्ग के पालन के लिये ब्राह्मण को वृत्तिका अवलम्बन करना होगा। ब्राह्मण की मुख्य वृत्तियां ये हैं —

अध्यापनञ्चाध्ययनं यजनंयाजनन्तथा।
दानंप्रतिगृहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः॥
षण्णान्तुकर्मणामस्य त्रीणिकर्माणिजीविका।
याजनाध्यापनञ्चैव विशुद्धाच्चप्रतिगृहः॥

पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, यज्ञ करना, दान देना और लेना, ये छः ब्राह्मण के कार्य्य हैं। इन छः में अध्यापन, याजन और सत् प्रतिगृह ये तीन उसकी जीविका हैं।

अन्य के द्वारा कृषि, वाणिज्य एवं कुसीद गृहण (सूदलेने) का कार्य्य चला कर भी ब्राह्मण जीविकोपार्जन कर सक्ता है और आपत्काल में स्वयं भी इन सब कार्यों के करने से पाप भागी नहीं होता। शास्त्र में ऐसाही लिखा है—

कुसीदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयंकृतम्।
आपत्काले स्वयंकुर्व्वन्नेनसायुज्यतेद्विजः॥

कुसीद (सूद) के सम्बन्ध में कहा गया है—

बहवोवर्त्तनोपायाऋषिभिः परिकीर्त्तिताः।
सर्व्वेषामपिचैतेषांकुसीदमधिकं विदुः॥

ऋषियोंने जीविका के अनेक उपाय कहे हैं, किन्तु सबकी अपेक्षा यथोचित कुसीद गृहणही उत्कृष्ट है।

जीविका के लिये भृति स्वीकार भी (वेतन लेकर चाकरी करना भी) निषिद्ध नहीं है—

उपयादीश्वरञ्चैव योगक्षेमार्थसिद्धये।

योगक्षेम और अर्थ सिद्धि के लिये समर्थकी सेवा करनेमें दोष नहीं है।

वाणिज्य के सम्बन्ध में कहा गया है—

सद्यः पततिलौहेन लाक्षयालवणेनच।
त्र्यहेनशूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥

लोहा, लाख, लवण एवं दुग्ध आदि वस्तुओं का व्यवसाय करने से ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र तुल्य होकर शीघ्र ही पतित हो जाता है। खान में, वन भूमि में एवं समुद्रतट पर ब्राह्मण का गमन रोकना एवं दुग्ध का व्यवसाय करने से यदि लोभ की वृद्धि हो और उसके कारण बछड़े-बछियों पर अत्याचार किया जाय, ऐसे कुत्सित अर्थ्या

चार को रोकना ही उल्लिखित विधि का तात्पर्य्य कहा या समझा जा सक्ता है ।

शूद्र के लिये भी कई एक पदार्थों का व्यवसाय दोषवह है—

विक्रयः सर्व्ववस्तूनांकुर्व्वन् शूद्रो न दोषभाक् ।
मधुचर्म्मसुरालाक्षांत्यक्त्वामांसञ्चपञ्चमम् ॥

मधु, चर्म, सुरा, लाक्षा (लाख) एवं मांस-इन पांच पदार्थों को छोड़कर शूद्र अन्य सब वस्तुओं का व्यवसाय कर सक्ता है । जान पड़ता है इन सब द्रव्यों के व्यवसाय को " हिंसा की अधिकता " आदि दोषों से युक्त जानकर व्याध, किरात, शवर आदि वन्य (जंगली) एवं पहाड़ी आदि अन्त्यज लोगों के लिये उसे छोड़ देने के अभिप्राय से ही इस विधि की सृष्टि हुई थी ।

कृषी के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अष्टागवंन्धर्म्महलं षड्गवंजीवितार्थिनाम् ।
चतुर्गवंनृशंसानां द्विगवंब्रह्मघातिनाम् ॥

(समस्त दिन) यदि चार जोड़ी बैलों से हल चलाया जाय तो वह धर्म्महल है । तीन जोड़ी बैलों से हल चलाया जाय तो वह जीविकार्थीजनों का हल है और दो जोड़ी बैलों से हल चलाना निठुरों का हल है एवं एक जोड़ी बैलों से हल चलाना ब्रह्म हत्याकारी का हल है ।

उपार्जित धन की रक्षा और प्रयोग के सम्बन्ध में भी शास्त्रकृत विधि है—

पादेनतस्यपारक्यं कुर्य्यात्सञ्चयमात्मवान् ।
अर्द्धेनचात्मभरणं नित्यंनैमित्तिकन्तथा ॥
पादस्याद्धार्द्धंमर्थस्य मूलभूतं विवर्द्धयेत् ।
एवमारभतः पुंसश्चार्थः साफल्यमृच्छति ।

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि जो (धन) प्राप्त हो उसके चतुर्थ अंश को पारलौकिक हितके साधन में लगा दे और अर्द्धभाग से नित्यनैमित्तिक कर्मों का निर्वाह करते हुए आत्मपोषण करे एवं शेष चतुर्थांश के चतुर्थांश को मूलधन में संयुक्त कर बढ़ाता रहे । इस प्रकार चलने से अर्थ (धन) की सफलता होती है ।

किन्तु आर्य्यशास्त्र ने जो धन सञ्चय आदि की विधि बताई है वह सब लोगों को विलासी बनाने के लिये नहीं है, उसका मुख्य तात्पर्य्य लोगों को क्रियावान् बनाना है ।

धनमूलाः क्रियाः सर्व्वायत्नस्तस्यार्जनेमतः ।
रक्षणम्वर्द्धनम्भोग इतितत्र यधिक्रमात् ॥

सभी क्रियाओं का मूलधन है, बिना धन के कुछ नहीं किया जा सक्ता, इसी कारण धनोपार्जन में यत्न करना चाहिये एवं इसी से यथाक्रम धन की रक्षा करने, धन के बढ़ाने और भोग करने की व्यवस्था दी गई है ।

रात्रि के शेष यामार्द्ध में दिन का प्रातःकृत्य, दिन के प्रथम-यामार्द्ध में पुष्पचयन आदि, द्वितीय यामार्द्ध में वेदाभ्यास एवं तृतीय यामार्द्ध में पोष्यवर्ग के पालनार्थ अर्थसाधन करने का नियम है । तदनन्तर चतुर्थ यामार्द्ध में अर्थात् साढ़े दस बजे से बारह बजे तक मध्यान्ह स्नान, तर्पण एवं मध्यान्ह सन्ध्या पूजा आदि करने की व्यवस्था है ।

प्रातः स्नान की जो विधि कही गई है वही विधि मध्यान्ह स्नान की भी है । अर्थात् अकृत्रिम जलाशय में, स्रोत के सम्मुख, पूर्व या उत्तर को मुखकर, केवल धोती और अङ्गप्रोक्षण (अङ्गोछा या गमछा) वस्त्र लेकर, नाभि पर्य्यन्त जल में जाकर, नासिकादि छिद्रों को हाथ से बन्दकर तीन बार शिर से स्नान करना चाहिये। मध्यान्ह स्नान में प्रातः स्नान से विशेष बात यह है कि इसमें तैलाभ्यङ्ग किया जाता है । प्रातः स्नान के समय तैलाभ्यंग करने का स्पष्ट निषेध है—

प्रातःस्नानेव्रतेश्राद्धे द्वादश्यां ग्रहणे तथा ।
मद्यलेपसमतैलं तस्मात्तैलम्बिवर्ज्जयेत ।

प्रातः स्नान के समय, व्रत और श्राद्ध के दिन, द्वादशी को एव ग्रहण के दिन तैल का लगाना मदिरा लगाने के समान है, इस कारण इन दिनों में तैल वर्जित है ।

तैल लगाने का नियम यह है कि पहले पैर में फिर हृदय, पीठ

और हाथों में और फिर शिर में । क्योंकि मस्तक में लगे तैल के अवशिष्ट को अन्यान्य अंगों में लगाना निषिद्ध है । यथा—

शिरोऽभ्यङ्गावशिष्टेन तैलेनाङ्गं नलेपयेत् ।

पर्व दिन (चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा एवं सूर्य्य संक्रान्ति के दिन) में तैल लगाना निषिद्ध है । इनके सिवाय षष्ठी और नवमी के दिन मस्तक में और पर्व व सन्धियों में तैल डालने का निषेध है । तैलाभ्यंग में वार दोष भी माना जाता है । रविवार तथा मङ्गलवार को तैल का व्यवहार अशुभ है ।

आयुर्वेद (वैद्यक) शास्त्र में तैल लगाने के यथेष्ट गुण कहे हैं—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं सजराश्रमवातहा ।
शिरःश्रवण पादेषुतं विशेषेणशीलयेत् ॥

नित्य यथाविधि तैल लगाने से जरा (बुढ़ापा), श्रम (थकन) एवं वात दोषों का निवारण होता है । मस्तक में, कानों में और चरणतल में विशेष तैल मर्दन करना चाहिये ।

शास्त्र में यह भी कहा है कि तैल व्यवहार के अनुपयुक्त दिनों में केवल तिल तैल का लगाना निषिद्ध है —

तैलाभ्यङ्गनिषेधेतु तिलतैलं निषिध्यते ॥
घृतञ्चसार्षपंतैलं यत्तैलम्पुष्पवासितम् ।
अदुष्टम्पक्वतैलञ्च स्नानाभ्यङ्गेचनित्यशः ॥

तैलाभ्यंग के निषेध में केवल तिलतैल का निषेध किया जाता है। घृत विशेष, सरसों का तैल, पुष्पवासित तैल एवं पक्वतैल-इनका स्नानाभ्यङ्ग में नित्य व्यवहार अदूषित है किन्तु शरीर में कफ दोष होने पर या (स्नान आदि द्वारा) शुद्ध होने के उपरान्त अथवा अजीर्ण दोष होने पर तैल न लगाना चाहिये ।

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तैःकृतसंशुद्धयजीर्णिभिः ।

यूरोपखण्ड के उत्तर भाग में अत्यन्त शीत है । वहां के लोग शरीर से वस्त्र नहीं उतार सक्ते । इसी कारण इन सब देशों में क्या भैषज्य तैल और क्या अन्य किसी तैल के व्यवहार का चलन नहीं है । सुतरां अङ्गरेज लोग तैल नहीं लगाते ।

इस विषय में यहां की अङ्गरेजी शिक्षित सम्प्रदाय के लोग जो

अङ्गरेजों का अनुकरण कर तेल का व्यवहार छोड़ देते हैं सो वैध अनुकरण नहीं है अर्थात् अनुचित है, इसके द्वारा बहुत कुछ स्वास्थ्य-हानि होने की सम्भावना है। पूर्व समय में ग्रीक, रोमन्, यहूदी आदि जातियों के बीच तैल लगाने और बेसन से शिर मलने का व्यवहार प्रचलित था। इस समय भी अनेकानेक लोगों में ऐसी प्रथा प्रचलित है। किन्तु यूरोपखण्ड में सर्वत्र साबुन का ही तैल के स्थान में व्यवहार होता है। वस्तुतः साबन में तैल या वसा (चर्बी) आदि तैलवत् पदार्थ एवं क्षारमृत्तिका (सोडा आदि) दोनों ही रहते हैं। इन दोनों के एकत्र योग पूर्वक नित्य प्रयोग का वैसा तृप्तिकर और स्वास्थ्यकर न होना अधिक सम्भव है। अधिक दिन तक शुद्ध तैल लगाकर एवं किसी २ दिन मृत्तिका या भस्म लगाकर स्नान करना जैसा शास्त्राचार रक्षा के, वैसाही स्वास्थ्य रक्षा के अनुकूल है। शास्त्र में भी मृत्तिका लगाने की एवं भस्मलेपन की विधि है। हमने देखा है कि विशुद्ध मृत्तिका के लेप से विस्फोटक (फुन्सी, फोड़ा), व्रण (घाव) एवं अन्धोरिया (शरीर में हो जानेवाले स्वेदसम्भूत छोटे छोटे दाने) आदि त्वक्सम्बन्धी सब रोगों का विशेष प्रतिकार हुआ है। और सुना है कि कुष्ठ (कोढ़) पर्यन्त अच्छा होगया है।

तैलाभ्यङ्ग के उपरान्त अवगाहन या वारुण स्नान एवं तदनन्तर जलादि द्वारा तिलक लगा और तर्पण करके आर्द्रवस्त्र का त्याग एवं फिर मध्यान्ह सन्ध्या करना चाहिये। विधि विहित कर्म्म के समय शरीर के वस्त्रों का सर्वतोभाव से पवित्र होना आवश्यक है।

> स्वयंधौतेनकर्त्तव्याः क्रियाधर्म्याःविपश्चिता।
> नचराजकधौतेन नचाधौतेन कर्हिचित् ॥
> पुत्रमित्रकलत्रेण स्वजातिवान्धवेनच।
> दासवर्गेन यद्धौतंतत्पवित्रमितिस्थितिः ॥

पण्डित को चाहिये कि धर्म्मकर्म करने के समय के वस्त्रादि को आपही धोलें। धोबी के धोए अथवा अधौत वस्त्रों का व्यवहार कभी न करें। किन्तु पुत्र, मित्र, पत्नी, सजातीय, बान्धव एवं दास-वर्ग के धोए वस्त्र पवित्र हैं यह निश्चित है।

मध्यान्हसन्ध्या के केवल कई एक मन्त्र एवं ध्यान प्रातः सन्ध्या

से भिन्न हैं, नहीं तो प्रातः सन्ध्या के जो २ अङ्ग एवं अनुष्ठान हैं वे ही मध्याह्न सन्ध्या के हैं। समर्पण और सन्ध्या के अन्त में ब्रह्मयज्ञ नाम एक अनुष्ठान होता है। जो लोग विशेषज्ञ नहीं हैं वे इसको संध्याका ही अङ्ग मानते हैं वास्तव में यह स्वतन्त्र कर्म्म है, किसी अन्य कर्म्म का अङ्ग नहीं है। इसका उपादान स्वाध्यायपाठ (अनुकल्प में गायत्री पाठ) एवं चार वेदों के चार मन्त्रों का जप (पाठ) है + उन मन्त्रों में से प्रथम ऋग्वेद के मन्त्र से अग्नि का, द्वितीय यजुर्वेद के मन्त्र से वायु का, तृतीय सामवेद के मन्त्र से अग्नि का एवं चतुर्थ अथर्ववेद के मन्त्र से जल का आवाहन और स्तवन किया जाता है। ब्रह्मयज्ञ के उपरान्त देवपूजन करना होता है। देवपूजन में पार्थिव शिवलिंग अथवा प्रस्तरकृत बाणलिंग में महादेव की पूजा एवं (गृहस्थों के लिये) कुल देवता या इष्टदेवता की पूजाही प्रधान है।

देवपूजा के सम्बन्ध में कई एक प्रधान २ बातें बताई जाती हैं। पञ्च देवता की पूजा ही मुख्य पूजा है उन्हीं पञ्चदेवता की पूजा एवं उसका क्रम एक ही श्लोक में कह दिया गया है—

आदित्यंगणनाथञ्चदेवीरुद्रं यथाक्रमम्।
नारायणंविशुद्धाख्यमन्तेच कुलदेवताम्॥

क्रमशः सूर्य्य, गणेश, देवी, रुद्र, विशुद्ध नामधारी नारायण एवं अन्त में कुल देवता का पूजन करना चाहिये।

देवगृह एवं पूजा की सब सामग्री को यथासाध्य परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित वार परिच्छन्न (ढँक) रखना चाहिये। इसी कार्य्य को देवगृह का अर्चन कहते हैं।

ततोगृहार्चनंकुर्य्यात्।

स्वयं अथवा ब्राह्मण के द्वारा देवपूजन की सब सामग्री का संग्रह करना चाहिये।

× ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋग्वेदः)

ॐ इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि॥ (यजुर्वेदः)

ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिषि॥ (सामवेदः)

ॐ शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः। (अथर्ववेदः) सं०

समित्पुष्पकुशादीनि ब्राह्मणः स्वयमाहरेत्।
शूद्रानीतैः क्रयक्रीतैः कर्मकुर्वन्पतत्यधः॥

समित् (होमकी लकड़ी), पुष्प, कुश आदि सामग्रीका संग्रह ब्राह्मणको स्वयं करना चाहिये। शूद्रानीत अथवा क्रयक्रीत सामग्री द्वारा कर्म करनेसे उसका अधःपतन अनिवार्य्य है।

जैसे लोगोंको पवित्र करना शास्त्रका उद्देश्य है वैसे ही उनको निरलस, कर्म्मठ (कामकाज) एवं सदा निजकर्ममें अवहित या तत्पर करना भी शास्त्रका उद्देश्य है। इसी कारण अनेकानेक कार्मोंको अपने ही हाथसे करनेकी विधि बनाई गई है। जिन वस्त्रोंको पहन कर वैधकर्म्म सम्पन्न करने होते हैं, उन्हें अपने ही हाथसे धोनेकी मुख्य विधि पहले ही लिखी जा चुकी है।

किन्तु पूजाके समय ये सब बाहरी आडम्बर हैं—ऐसा जानकर इन्हें केवल आडम्बरमय न समझना चाहिये। पूजकका बाहरी और भीतरी भाव कैसा होना चाहिये सो शास्त्रमें स्पष्ट ही कहा है—

शुचिः शुक्लाम्बरधरो मौनी ध्यानपरायणः।
कामक्रोधभयद्वन्द्वो रागमात्सर्यवर्जितः॥
आत्मानं भूषयित्वा तु सुगन्धिसितवाससा।
देवान्प्रपूजयेत् ....॥

शुचि, शुक्लवस्त्रधारी, प्रज्ञ (सावधान), मौनी, ध्यानपरायण, काम भय द्वन्द्व-राग-मात्सर्यसे शून्य होकर सुगन्धि, श्वेतवस्त्र आदिसे अपने को अलंकृत कर देवताकी पूजा करे।

पूजाके यथार्थ अधिकारी व्यक्तिको सामान्यगुणगणसे विभूषित होना चाहिये। सामान्यगुण (धर्म्म) ये हैं—

क्षमाशौचं दमः सत्यंदानमिन्द्रियनिग्रहः।
अहिंसागुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवंलोभ शून्यत्वं देवब्राह्मण पूजनम्।
अनभ्यसूयाच तथा धर्म्मः सामान्यउच्यते॥

क्षमा, शौच, दम, सत्य, दान, इन्द्रिय निग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थाटन, दया, सरलता, लोभशून्यता, देव-ब्राह्मण पूजन, और अनभ्यसूया (डाह या ईर्षाका न होना) ये सामान्य धर्म हैं।

देवपूजाका व्यापार किञ्चिन्मात्र अर्थव्यय विभिन्न केवल जल-दान द्वारा भी सम्पन्न हो सकता है। किन्तु गृहस्थके लिये इस प्रणालीकी पूजा प्रशस्त नहीं।

अन्नेनसुमनोभिश्चगन्धैर्धूपैः प्रदीपकैः ।
गृहस्थः पूजयेन्नित्यं स्वगृहे गृहदेवताम् ॥

गृहस्थको चाहिये कि निज गृहमें अन्न, पुष्प, गन्धद्रव्य एवं धूप, दीप आदिसे गृहदेवताकी पूजा करे। ऐसा होनेसे ही सद्गृहस्थका पूजनालय समग्र गृहका आदर्श होगा, यह बात सहज ही समझमें आ सकती है।

स्पष्टही देखा जाता है कि चतुर्थ यामार्द्धके कृत्य विविध प्रकारके हैं। डेढ़ घण्टेके बीचमें ये सब सम्पन्न न होसकते हों—ऐसा नहीं है। अभ्यस्त होने पर पूर्ण डेढ़ घण्टा समय भी इन कामोंमें नहीं लगता। इस समय कहना यह है कि अर्थ चिन्तन एवं अर्थ संग्रहका समय कहकर जो तृतीययामार्द्ध निरूपित हुआ है वह बहुत लोगोंके लिये पर्य्याप्त वा अलम् नहीं होता—विशेष कर नगरवासी चाकरी करनेवाले लोगोंके लिये तो तृतीययामार्द्धके कृत्यने ही परवर्त्ती यामार्द्धोंमें करनेके सभी कृत्योंको ढक लिया है। इस समय चाकरी करनेवालोंको ९ से लेकर १२॥ के भीतर ही आहारादि समाप्त कर चाकरीके स्थानमें जाकर उपस्थित (हाज़िर) होजाना पड़ता है। इसीसे उनमेंसे अधिकांश लोग तृतीय यामार्द्धसे ही आरम्भ कर उस समय तक मध्यान्ह सन्ध्या एवं देवपूजा आदि आवश्यक कृत्य कर-डालते हैं। एक यामार्द्धके कृत्यको अन्य यामार्द्धमें करनेसे वैसा कोई दोष नहीं होता। वाक्स्वतमें स्मार्त्त शिरोमणि रघुनन्दनजीने मीमांसा की है—

" अनाप्रत्यारव्येय कर्म्मानुरोधेन प्रधान
कालादन्यत्रापि कर्त्तव्यत्वेनरकम्भोनुष्ठानमिति । "

जो कार्य्य टल नहीं सकता उस कार्य्यके अनुरोधसे मुख्यकालको छोड़कर गौणकालमें भी वैधकार्य्यका निर्वाह कर लेना चाहिये। जो कि स्वधर्म्मनिष्ठ लोग हैं वे धर्म्मानुष्ठानके सब विघ्नोंको दूरकर कर्त्तव्यपालन कर सकते हैं। इसीसे कहा गया है—

न सन्ध्यापूजनैर्लोकैर्बाध्यते कर्म्मकिञ्चन ।

सन्ध्या पूजन आदिके कारण लोगोंके किसी आवश्यक कार्य्यकी क्षति नहीं होसकी । वास्तवमें देखा जाय तो इस समय कार्य्यके कारण सन्ध्या-पूजन आदि कार्य्योंमें व्याघात नहीं होता । जो होता है वह नास्तिकपन अथवा आलस्यके कारण होता है ।

तृतीय अध्याय ।

नित्याचार प्रकरण ।

मध्याह्नकृत्य ।

देवपूजाके समाप्त होने पर पञ्चमयामार्द्ध (१२ से १॥ बजे तकके समय) के कार्य्यका आरम्भ होना चाहिये । इस यामार्द्धके कार्य्य अनेक हैं । जैसे हवन, वैश्वदेव, बलि, अतिथि सेवा, नित्यश्राद्ध, गोग्रासदान और भोजन । इन उल्लिखित कृत्योंका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है ।

(१) होम । इस समय इस देशमें साग्निक ब्राह्मणोंका एकान्त अभावसा होगया है नित्य होम करनेवालोंकी संख्या भी बहुत थोड़ी है । किन्तु नित्य होमका अनुष्ठान वृहत् या जटिल नहीं है । इसकी आहुतियोंकी संख्या भी थोड़ी है और हवन सामग्री भी दुर्लभ या बहुमूल्य नहीं है ।

"गृहमेधिनो यदशनीयं तस्यहोमाबलयश्च स्वस्वपुष्टि संयुक्ताः ।"

गृहस्थके लिये भोजन सामग्रीही हवनीय पोषणकारी द्रव्य है ।

अग्नि हवनके स्थान पर शुद्धतम मन्त्र पाठ पूर्वक जलमें जलकी आहुति देनेसे भी काम चल सक्ता है—

" जुहुयादम्बुनापिच "

ऐसे स्वल्पायास साध्य अनुष्ठानका लोप होजाना अच्छा नहीं है ।

(२) वैश्वदेव । समष्टिभावमें जिसको 'विष्णु' कहते हैं, व्यष्टि-भावमें वही 'विश्वदेव' नामसे प्रसिद्ध है । " ॐविश्वेदेवाय नमः " केवल इतना कहनेसे ही वैश्व देवपूजन सम्पन्न होजाता है ।

सायम्प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्योबलिकर्म्मच ।

अनश्नताऽपिकर्त्तव्यमन्यथा किल्बिषीभवेत ॥

सायंकाल और प्रातःकाल वैश्वदेव (विश्वदेवकी पूजा और आहुति) एवं बलिकर्म करना चाहिये । दोनों समय बिना भोजन किये ही इन कर्मोंको करना चाहिये अन्यथा पाप होता है ।

(३) बलि । बलिकर्ममें विश्वके अन्तर्गत समस्त प्राणियोंको अन्न देना होता है । यथा —

देवामनुष्याःपशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसंघाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्तायेचान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥
पिपीलिकाकीट पतङ्गकाद्याः बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्योविसृष्टंसुखिताभवन्तु ॥
येषां नमाता नपिता नबन्धु नैवान्न सिद्धिर्नतथान्नमस्ति ।
तत्तृप्तयेऽन्नंभुविदत्तमेतत्प्रयान्तु तृप्तिंमुदिताभवन्तु ॥
येचान्ये पतिताः केचिदपात्राः पापयोनयः ।

अर्थात् देवता मनुष्यसे लेकर कीट पतङ्ग वृक्षादि पर्य्यन्त और बान्धव विहीन एवं पतित और पामर सभी हमारे दिये इस अन्नको प्राप्तकर तृप्त और प्रसन्न हों ।

इस सर्वभूतमय बलिप्रदानका एक अपूर्व हेतु निर्दिष्ट हुआ है—

भुविभूतोपकाराय गृहीसर्वाश्रयोयत ।
श्वचाण्डालविहङ्गानाभन्नं दद्यात्ततोनरः ॥

सब प्राणियोंके उपकारार्थ यह गृहस्थाश्रम है । गृहस्थव्यक्ति सबका आश्रयस्वरूप है, इस कारण उसे चाहिये कि पृथ्वीके रहनेवाले कुत्ते, चाण्डाल, पक्षी पर्य्यन्तको अन्न दानकर फिर आप भोजन करे ।

गृहस्थको बलिप्रदानके समय सच्ची मन यह सोचना और कहना चाहिये कि: —

भूतानिसर्वाणितथान्नमेतदहञ्चविष्णुर्नयतोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नम्प्रयच्छामि भवायतेषाम् ॥

सब प्राणी, यह अन्न और मैं सभी वह विष्णुदेव हैं, जिनसे भिन्न कुछ भी नहीं है । इस कारणमैं उन प्राणियोंके पालनार्थ यह भूतनिचयमय अन्न देता हूं ।

भारतवासियोंके शास्त्रविहित नित्य बलिकर्मके अनुष्ठान द्वारा सब जीवों पर दया करनेका और परार्थपरताका जैसा अभ्यास सिद्ध

होता है वह अन्यजातीय लोगोंकी कल्पना शक्तिसे भी अतीत है। पुरुष परम्परासे ऐसे सनगूसत् अनुष्ठान होते रहनेका ही यह फल है कि भारतवासी लोग अन्य सब जातियोंकी अपेक्षा अहिंसक, दयालु और परार्थजीवी होते हैं। ऐसे अनुष्ठानका लोप होना हमारे लिये अच्छा नहीं है।

(४) अतिथि। बलिकर्म कर चुकने पर अतिथि सत्कार करना भारतवासियोंका नित्यकर्म है।

प्रियोवायदिवाद्वेष्योमूर्खः पण्डितएववा।
सम्प्राप्तोवैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

प्रियहो या शत्रुहो, मूर्खहो या पण्डितहो वैश्वदेव कर्मके उपरान्त जो कोई आ पहुंचे वही स्वर्गमें पहुंचानेवाला अतिथि है।

अतिथिमात्र गृहस्थके पूजनीय एवं आदरणीय हैं।

हिरण्यगर्भबुद्ध्यातं मन्येताभ्यागतंगृही।

गृहस्थको चाहिये कि अभ्यागत अतिथिको साक्षात्ब्रह्मा समझकर उसका सत्कार करे।

अतिथिका परिचय लेनेकी चेष्टा करना भी निषिद्ध है।

देशंनामकुलंविद्यां पृष्ट्वायोऽन्नं प्रयच्छति।
नसतत्फलमाप्नोति दत्त्वास्वर्गंनगच्छति॥

देश, नाम, कुल, विद्या आदिका पूँछकर जो कोई अतिथिको अन्न देता है उसको अन्न दानका फल नहीं होता-वह स्वर्गको नहीं जाता।

इस समय देशमें कुशिक्षाका प्रभाव बढ़नेसे कोई २ लोग असम्पूर्ण और निपट स्वार्थदर्शी पाश्चात्य अर्थशास्त्रका उल्लेख कर अतिथि और भिक्षुकोंका तिरस्कार करना सीखते जाते हैं। ऐसा करना अत्यन्त शास्त्रनिन्दित एवं हमारे जातीय स्वभावके विरुद्ध है।

(५) नित्यश्राद्ध। आर्यशास्त्रने लोगोंको धर्मशील बनानेके लिये जो सब उपाय निकाले हैं उनमें 'पूर्व पुरुषोंकी स्मृतिको जगाना' एक सर्वप्रधान उपाय है। इसी कारण जैसे प्रति वर्ष पूर्व पुरुषोंके स्मारक स्वरूप श्राद्धके करनेकी एक प्रथा प्रचलित है वैसेही विशेष२ पर्व दिनोंमें, प्रतिमास एवं प्रति दिन भी श्राद्ध करनेकी व्यवस्था है। दैनिक या नित्य श्राद्धका अनुष्ठान अति सामान्य है, इसमे कोई क्षति

नहीं है । इस श्राद्धमें भोज्योत्सर्ग अथवा पिण्डदान या विश्वदेवा-दिका आवाहन एवं 'बलि' आदिक कार्य्य नहीं करने होते । षट्पितृगण अर्थात् पितृपक्षके तीन और मातृपक्षके तीन पुरुषोंका स्मरण कर उनके उद्देश्यसे कुछ २ अन्न निकाल देनेसे ही काम चल सक्ता है, थोड़ा जलही दे देनेसे भी श्राद्धकृत्यकी पूर्त्ति होजाती है ।

"अशक्तावुदकेनतु"

शक्ति न होने पर केवल जलदानसे नित्यश्राद्ध कर देना चाहिये।

(६) गोग्रास । भौतबलि अर्थात् साधारणतः सब जीवोंको आहार देनेसे उपरान्त भी गोजातिके सम्बन्धमें कुछ विशेषता करनेके लिये गोग्रासदानकी विधि बनाई गई है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः ।
प्रतिगृह्णन्तुमेग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ॥

यही गोग्रास देनेका मन्त्र है । इसका अर्थ है —"सबका हित करनेवाली, पवित्र और पुण्यकी राशि एवं त्रैलोक्यजननी सुरभीकी सन्तानें (गौवें) मेरे दिये इस ग्रासको ग्रहण करें" । मन्त्रमें ही सुरभीधेनुकी कन्याओं (गौवों) पर भारतवासियोंकी श्रद्धा और भक्ति प्रकट है ।

(७) भोजन । पञ्चम यामार्द्धके सब कार्य्योंकी अपेक्षा भोजनही वृहत् व्यापार है । इस यामार्द्धके अन्तर्निविष्ट कार्य्य हैं हवन, वैश्वदेव, बलि, अतिथि सेवा, नित्यश्राद्ध एवं गोग्रासदान । इन्हीं सब कार्य्योंके करनेसे गृहस्थको शेषमें करणीय भोजन कार्य्यके निर्वाहकी योग्यता वा अधिकार प्राप्त होता है। मुख्य विधिके उपरान्त यज्ञाशी होना होता है अर्थात् यज्ञके अवशिष्ट अन्नका भोजन करना होता है । भोजनके पहले पांच यज्ञ अवश्य करने चाहिये (पञ्चयज्ञान्नहापयेत्) । वे पञ्चयज्ञ ये हैं –

अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम् ।
होमोदैवोबलि र्भौतोनृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

अर्थात् अध्यापन (पढ़ाना) ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलि वैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथिपूजा नरयज्ञ है । इन पञ्चयज्ञोंको किये बिना गृहस्थको शास्त्रके मतसे भोजनका अधिकार नहीं होता ।

किन्तु भोजनका अधिकार होतेही जैसे तैसे अथवा जैसा तैसा भोजन न करलेना चाहिये । हमारे आर्य ऋषिगण मनुष्यके सब कार्यौंके सभी अङ्गोंको विधिबद्धकर पवित्र एवं पाशवभावविहीन करनेमें यत्नशील थे । उन्होंने गृहस्थको उपदेश दिया—

इन्द्रियप्रीतिजननवृथापाकं विवर्जयेत् ।

केवल इन्द्रियोंकी प्रसन्नताके लिये वृथापाक न करना चाहिये । तदनन्तर कहा—

तथासुवासिनीरोगिगर्भिणी वृद्धबालकान् ।
भोजयेत्संस्कृतान्नेन प्रथमंचरमंगृही ॥

गृहस्थको चाहिये कि प्रथम नवविवाहिता, रोगिणी, रोगी, गर्भिणी, वृद्ध एवं बालकोंको संस्कृत स्वच्छ अन्न खिलाकर फिर अंतमें आप भोजन करे ।

और भी नियम हुवा—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत शुचिः पीठमधिष्ठितः ।
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः ॥

पवित्र पीठ पर पूर्वमुख बैठकर विशुद्धवदन पुरुष प्रसन्नता पूर्वक अन्न-भोजन करे । भोजनके समय विदिशाओं (आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशानकोणों) की ओर मुख न रखना चाहिये ।

अन्य नियम यह है—

पञ्चार्द्रो भोजनंकुर्यात् प्राङ्मुखोमौनमास्थितः ।
हस्तौपादौतथैवास्यमेषांपञ्चार्द्रतामता ॥

शरीरके पांच अङ्गों (दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख) को जलसे आर्द्रकर पूर्वमुख होकर मौनधारण पूर्वक भोजन करना चाहिये ।

भोजनके समय मौन रहना हमारे शास्त्रकी विधि है। पाश्चात्य लोगोंका व्यवहार इस विधिके विपरीत है । वे कहते हैं कि भोजन करते समय वार्तालाप करनेसे अन्न परिपाक क्रिया सुसम्पन्न होती है । किन्तु बात करनेसे मुखका लालानिःस्राव (थूक) घटता जाता है, जिससे जिह्वा सूखने लगती है; इसीलिये जान पड़ता है उन्हें अधिकाधिक जलपान या मद्यपान करना होता है। लारका सूखना एवं उसके लिये बीच २ में जल पीना परिपाक क्रियाके अनुकूल कभी नहीं

होसक्ता। प्रकृत प्रस्ताव यह है कि मांसके परिपाकके लिये लारका उतना अधिक प्रयोजन नहीं होता, इस कारण देखा जाता है कि मांस खानेवाले जीवजन्तु भी भोजनके समय "गरगर" शब्द करते हैं; उद्भिद् अर्थात् अन्न घास आदिके खानेवाले वैसा शब्द नहीं करते, चुपचाप भोजन करलेते हैं।

पंक्तिके विचारमें भी विशेष कहा है—

सप्तैकपंक्त्यामश्नीयात्संवृतः स्वजनैरपि ।
भस्मस्तम्भजलद्वार मार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत् ॥

स्वजनोंके साथ भी एक पंक्तिमें बैठकर न भोजन करना चाहिये। (होमके) भस्म अथवा तृण या जलकी रेखा द्वारा पंक्ति भेद (चौका अलग अलग) करदेना चाहिये। महाराष्ट्र ब्राह्मणोंमें जल रेखाके ऊपर चित्रविचित्र चित्रकारी द्वारा पंक्ति भेदके चिन्ह सुशोभित बना दिये जाते हैं।

भोजनपात्र रखनेके सम्बन्धमें कहा गया है—

उपलिप्तसमेस्थाने शुचौश्लक्ष्णासनान्वितः ।
चतुरस्रं त्रिकोणञ्च वर्तुलञ्चार्द्धचन्द्रकम् ॥
कर्त्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम् ।

(गोमय द्वारा) उपलिप्त, सम एवं शुचि स्थानमें लघु आसन पर बैठकर भोजन करे। ब्राह्मणको चतुरस्र, क्षत्रियको त्रिकोण, वैश्यको वृत्ताकार एवं शूद्रको अर्द्धचन्द्राकारमण्डलमें बैठकर भोजन करना चाहिये।

भोजनपात्रके सम्बन्धमें बहुतसी बातें बताई गई हैं—टूटे फूटे कांसेके पात्रमें न खाना चाहिये। शूद्रादिके भोजन करनेसे अपवित्र होगये पात्रमें, ताम्रपात्रमें, मलयुक्तपात्रमें, पलाश (ढाक) पद्म और मंदारके पत्र या पात्रमें, कदलीपत्रकी पृष्ठ पर, हाथमें लेकर या वस्त्रमें रखकर भोजन करना निषिद्ध है। स्वर्ण, रौप्य, प्रस्तर एवं स्फटिकके पात्रही भोजनके लिये उपयुक्त एवं उत्कृष्ट हैं। कांच, पोर्सिलेन एवं चीनीमिट्टी, इन्हीं तीनको कृत्रिम स्फटिक कहा जासक्ता है एवं स्वदेशमें इनके बहुतायतसे बनने पर हमारे समाजमें क्रमशः इनके व्यवहारका बढ़ना हितकारी होगा-ऐसाही जान पड़ता है।

भोजनसामग्रीके सन्मुख उपस्थित होनेपर मनका भाव ऐसा होना चाहिये—

पूजयेदशनं नित्यस्वाद्याच्चैनदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्चसर्वशः ॥

भोजनकी सामग्रीको सादर ग्रहण करे उसकी निन्दा न करे, देखकर हृष्ट, प्रसन्न एवं सर्वतोभावसे आनन्दित होकर भोजन करे ।

तदनन्तर पञ्च बाह्य वायुओंके नामसे थोड़ा २ अन्न पृथ्वीपर छोड़कर आचमनपूर्वक पञ्च आन्तरिक वायुओंके नामसे पांच आहुति देकर उत्सर्गीकृत अन्नको थोड़ा २ कर अङ्गुलिपर्व्वद्वारा मौनभावसे मुखमें डालना चाहिये ।

भक्ष्यपदार्थके सम्बन्धमें यह नियम है—

प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नन्वैमध्येचकठिनानि च ।
पुनरन्तेद्रवाशीतु बलारोग्ये न मुञ्चति ॥

प्रथम तरल पदार्थ, मध्यमें कठिन पदार्थ और फिर अन्तमें तरल पदार्थ खानेसे मनुष्य सदैव सबल और आरोग्य रहता है ।

कौन रस कब खाना चाहिये, सोभी लिखा है—

अश्नीयात्तन्मनाभूत्वापूर्व्वन्तुमधुरंरसम् ।
लवणाम्लौ तथामध्ये कटुतिक्तादिकन्तथा ॥

एकाग्रचित्त होकर प्रथम मधुररस तदनन्तर लवण और अम्लरस (खटाई) एवं उसके उपरान्त कटु और तिक्तरस खाना चाहिये ।

वंगदेशमें उल्लिखित क्रमकी रक्षा नहीं होती, यहां सम्पूर्ण विपरीत प्रणालीका अवलम्बन कर प्रथम तिक्त, फिर कटु, तदनन्तर लवण और अम्ल एवं सबके अन्तमें मधुर भोजन कियाजाता है । पञ्चाब प्रदेशके ब्राह्मणलोग उल्लिखित शास्त्रमतके अनुसारही भोजन करते हैं । *

भोजनके आरंभमें जैसे आचमन करनेकी विधि है, भोजनके अन्तमें भी वैसेही आचमन करनेकी व्यवस्था है । अमृतस्वरूप जल भक्ष्य पदार्थका आस्तरण और पिधान है, अर्थात् भक्षित पदार्थका आसनभी जल है और आवरणभी जल है ।

भोजनसम्बन्धी कईएक स्थूल २ नियमोंका उल्लेख यहांपर कियागया है । किन्तु सर्वदिक्दर्शी आर्य्यशास्त्रने भोजनव्यापारके साथ दैहिक एवं मानसिक स्वास्थ्यकी एकान्त घनिष्ठता जानकर इसको सर्वांगसंस्कारकी चेष्टा की है ।

* युक्तप्रदेश और मारवाड़के प्रायः प्रान्तोंमें प्रथम मधुररसही भोजन करते हैं

गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे त्रिविध आहारका उल्लेख कियागया है। इस त्रिविध आहारभेदके अनुसार मानसिकभावकी भी कुछ २ विभिन्नता होती है।

> आयुःसत्व बलारोग्य सुखप्रीति विवर्द्धनाः।
> रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्याआहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
> कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः।
> आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।
> यातयामंगतरसम्पूतिपर्य्युषितञ्चयत्।
> उच्छिष्टमपिचामेध्यं भोजनंतामसप्रियम्॥

अर्थात् सरस, स्निग्ध, सारयुक्त और मनोरम आहार सात्त्विक है। अधिक कटु-अम्ल-लवण-रसयुक्त, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति रूक्ष और विशेषदाही आहार राजस है। ठंढा होगया, असार, दुर्गन्धियुक्त, पर्य्युषित (बासी), उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र आहार तामस है। सात्त्विक आहारसे परमायु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रसन्नताकी वृद्धि होती है। राजस आहारसे दुःख, शोक और अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है (तामस आहारसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी विशेष हानि होती है)। सात्त्विक आहार सात्त्विक स्वभावके लोगोंको प्रिय होता है और राजस आहार राजसी प्रकृतिके लोगोंको रुचता है एवं तामस आहारमें तामसी प्रकृतिके लोगोंकी रुचि होती है।

भोजनका दोष या अन्नदोष तीन प्रकारका होसक्ता है—ऐसा निर्दिष्ट हुआ है। वह (१) कुपथ्य सेवन करनेसे पीड़ाजनक होकर होता है, (२) शास्त्र-निषिद्ध वस्तुओंके भक्षणसे पापजनक होकर होता है और (३) निषिद्ध एवं पीड़ाजनक, दोनों दोषोंसे युक्त वस्तुओंके भक्षणसे भी होता है। इन तीन प्रकारके दोषोंका निवारण कर मनुष्यगण भोजनकार्य्यद्वारा अपने हितसाधनकी चेष्टा करें—यही शास्त्रकी आज्ञा है।

> स्वाध्यायेनित्ययुक्तःस्यात् नित्यमात्म हितेषुच॥

जैसे स्वाध्यायमें नित्य उद्योगी रहना होता है वैसेही (भोजनव्यापारद्वारा) अपने हितसाधनमें नित्य उद्योगी रहना चाहिये।

इसीलिये पथ्य-कुपथ्यका विचारकरके भोजनकरनेकी विधि बनाई गई है। इन भोजन विधियोंके बनानेमें, धातुभेद, ऋतुभेद एवं शारीरिक अवस्थाभेदके अनुसार जो पथ्य-अपथ्यका भेद होता है सो अति सुप्रणालीपूर्वक विचार

लियागया है। धातुके विचारमें कहागया है कि मनुष्यकी धातु अविमिश्र नहीं होती । सभी शरीरोंमें वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषोंका मिश्रण (मेल) है, उनमेंसे जिसके शरीरमें जिसकी अधिकता है वह उसी धातु (प्रकृति) का मनुष्य कहा जाता है। किन्तु इन सब धातुओंके शास्त्रनिर्दिष्टलक्षण बताने के प्रथम पाश्चात्यचिकित्सा शास्त्रके साथ इस विषयका सामञ्जस्य करलेना उचित होगा । नव्यदलके लोग वायु, पित्त, कफका नाम सुनकरही हँसने लगते हैं, वास्तवमें इन शब्दोंके द्वारा शरीरके विशेष २ लक्षणमात्र सूचित किये गये हैं। ये पारिभाषिक शब्द हैं। इनके प्रति उपेक्षा दिखानेका कोई कारणही नहीं है। स्थूलरीतिसे कहाजासक्ता है कि अंगरेजीमें जो Nervous है संस्कृतमें वही वायु है, अंगरेज़ीमें जो Bilious है संस्कृतमें वही पित्त है और अंगरेज़ीमें जो Lymphatic है संस्कृतमें उसीको कफ कहते हैं।

वातप्रकृति मनुष्यका लक्षण यह है—

कृशोरूक्षोऽल्पकेशश्चचलचित्तोऽनवस्थितः ।
बहुवाक्यमतःस्वप्ने वातप्रकृतिकोनरः ॥

कृश (दुर्बल), रूक्ष, थोड़े केशवाले, चञ्चलचित्त, अनवस्थित (क्षणिकबुद्धि), सोते समय प्रलाप करनेवाले मनुष्यको वातप्रकृति जानना चाहिये ।

अकालपलितोगौरः प्रस्वेदीकोपनोबुधः ।
स्वप्नदीप्तिमतप्रेक्षीपित्तप्रकृतिरुच्यते ॥

अकालमें जिसके केश श्वेत होजायं, वर्ण गौर हो, स्वेद अधिक आता हो, क्रोध अधिक हो, बुद्धि प्रखर हो, स्वप्नमें दीप्तिशाली पदार्थ देख पड़ते हों वह पुरुष पित्तप्रकृतिवाला है ।

स्थिरचित्तः सुबद्धाङ्गः स्वप्नलः स्निग्धमूर्द्धजः ।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिकोनरः ॥

जिसका चित्त स्थिर, अङ्ग सुगठित, निद्रा अधिक, केश चिकने और लम्बे, स्वप्नमें जलाशय अधिक देख पड़ते हों—वह पुरुष कफप्रकृतिवाला है ।

इन सब लक्षणोंके मिश्रण से द्विदोषात्मज, त्रिदोषात्मज धातु उत्पन्न होती है। ऐसा पान, भोजन करना चाहिये जिससे जिस व्यक्तिके जो प्राकृतिक दोष है उस दोषकी वृद्धि न होकर धातुसामञ्जस्य हो, अर्थात् सब धातुए समान रहें ।

पानाहारादयोयस्य विरुद्धाःप्रकृतेरपि ।
सुखित्वायोपकल्पन्तेतत्सात्म्यमिति कथ्यते ॥

जब प्रकृति (धातुगतदोष) के विरुद्ध पान-आहारादि करनेपरभी वे सुखकारी हों तब शरीरमें धातुओंकी समता समझनी चाहिये ।

विभिन्न धातुके लोगोंकी क्षुधाकी प्रकृतिभी विशेषके अनुसार विभिन्न होती है—

मन्दस्तीक्ष्णोऽतिविषमःसमश्चेतिचतुर्व्विधः ।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जठरानलः ॥

जठराग्नि चार प्रकारका है । (कफकी अधिकतासे) मन्द, (पित्तकी अधिकतासे) तीक्ष्ण, (वायुकी अधिकतासे) विषम एवं (इन तीनोंकी समतासे) सम ।

धातुविचारके उपरान्त मनुष्यके शरीरकी विभिन्न धातुओंके साथ छः ऋतु, आठ वार और द्वादश मासका सम्बन्ध विचारागया है, जिससे इस महादेशके सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंकी प्रसिद्ध प्रतिभाके प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित तथ्योंका आविष्कार हुवा है । हेमन्त और शिशिरमें वायु कुपित या प्रबल रहता है । ऐसेही वसन्तमें श्लेष्मा (कफ), ग्रीष्ममें पित्त, वर्षामें वायु, पित्त और कफ—तीनो एवं शरदृऋतुमें केवल पित्त कुपित होता है ।

धातु एवं ऋतुकी प्रकृति बताकर, सबलोगोंको अपने २ भक्ष्यपदार्थके विचारलेनेमें अधिकतर सहायता करनेके लिये शास्त्रमें रस आदिके स्थूल २ गुण एवं किस धातुके साथ किस रसका कैसा सम्बन्ध है सो बतायागया है—

(१) मधुररस—प्रीतिजनक, बलकारी, वीर्य्यको बढ़ानेवाला, आयु बढ़ानेवाला, वातनाशक है ।

(२) अम्लरस (खटाई)—अत्यन्त रुचिकारी, रसनाको चंचलकरनेवाला, रक्त-मांसको बढ़ानेवाला, क्लेदनबर्द्धक, पाचक और कफवर्द्धक है ।

(३) लवणरस—रेचक, पाचक और पित्तको बढ़ानेवाला है ।

(४) तिक्तरस (तीखा)—पित्त, कफ, और चर्मरोग एवं ज्वरको नष्टकरनेवाला, दीपन-पाचनकारी, कण्डू (खाज) और क्रमियोंका नाशक है ।

(५) कषाय (कसैला)—शोषक (रसको सुखानेवाला), वायुवर्द्धक व कफनाशक है ।

(६) कटु—अग्निका उद्दीपक, कफनाशक और पित्तको बढ़ानेवाला है ।

(क) उष्ण—पित्तकारी, वीर्य्यवर्द्धक, लघु और वात व श्लेष्माके दोषोंको दूरकरनेवाला है

(ख) शीतल—पित्तनाशक, बलकारी, कफ व वातको बढ़ानेवाला और गुरु (भारी) है ।

धातु एवं समयका विचारकर विभिन्न रसका व्यवहारकरनेसे स्वास्थ्य रक्षा होती है ।

ऋतुभेदके अनुसार पथ्य-अपथ्यका वर्णन औरभी विस्तारपूर्वक कियागया है । वास्तवमें मुख्यतः आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्रकाही अवलम्बनकर पथ्यापथ्य विषयक विधियों या नियमोंकी सृष्टि हुई है ।

(१ । २) हेमन्त और शिशिरमें वायु कुपित होता है (उसे शान्त करनेके लिये) मधुर, अम्ल एवं लवणका व्यवहार करना चाहिये । मैदा, *मांस इक्षुरस दुग्धविकार एवं नवान्नभी उपकारी है । घाममें या अग्निके आगे बैठकर तापना अच्छा है । शौचमें उष्ण जलका व्यवहारकरना चाहिये । पादत्राणसे पैरोंको आवृत रखना चाहिये एवं उष्ण व कोमल शय्यापर सोना चाहिये ।

(३) वसन्तमें श्लेष्मा कुपित होता है, अग्नि मन्द पड़जाता है । इस ऋतुमें अग्निको उद्दीपितकरनेवाले काम करने चाहिये । व्यायाम करना और विशेषरूपसे शरीरको स्वच्छरखना, नस्य (हुलास) सूंघना चाहिये । पुराने यव, गोधूम (गेहूँ), मधु एवं जंगलीजीवोंका *मांस सुपथ्य है । दिनको सोना निषिद्ध है ।

(४) ग्रीष्मकालमें पित्त कुपित होता है । इस समयमें स्वादिष्ट, शीतल, द्रव, स्निग्ध पदार्थ और शर्करामिश्रितजल (शर्बत) एवं चाँवलोंकी खीर (दूधमें पकेहुवे चाँवल) के सेवनसे ग्रीष्म दोष न्यून होजाता है । मध्यान्हके समय खुले स्थानमें या जहाँ वायुका संचार हो वहाँ पर शयन करना चाहिये । लवण, अम्ल, कटु एवं उष्ण वस्तुओंका सेवन और व्यायाम स्वल्पही करना चाहिये ।

(५) वर्षाकालमें पृथ्वीकी भाप निकलनेसे और वर्षा होनेसे जल दूषित होजाता है एवं जठरानलका तेज मंद पड़ जाता है । इसकारण वात-पित्त-कफ-इन तीनोंके दोष प्रबल हो उठते हैं । इससमयमें अग्निसम्बर्द्धक, लघुपाक पदार्थ जैसे पुराने चाँवल, जंगली मांसका क्वाथ, मूँगकी दाल एवं स्वच्छ कूपजल आदिका व्यवहार हितकारी है । अधिक काम करना दिनको सोना एवं घाममें बैठना बुरा है ।

* जो लोग मांसाहारी हैं उन्हींके लिये मांसका विधान है ।

(६) शरत्कालमें पित्त कुपित होता है। इस समयमें मीठा और तिक्त रस उपकारी है। इक्षुरस, चाँवल, मूँग एवं सरोवरका स्वच्छजल पथ्य है। तुषार (पाला) या ओस, क्षार पदार्थ, दधि-तैल-वसा आदि का सेवन, अतितृप्ति, तीक्ष्णातपसहन, दिनको शयनकरना एवं पश्चिमवायु अहितकारी होनेके कारण वर्जनीय है।

इसप्रकार विभिन्न ऋतुओंमें खाद्य और व्यवहार्य वस्तुओंका निर्देश करनेके उपरान्त फिर कहा गयाहै—

नित्यसर्व्वरसास्वाद्यं स्वस्वाधिक्यावृत्तावृतौ।

नित्यही सब रसोंका स्वाद लेना चाहिये किन्तु जिस ऋतुमें जिस रसके सेवनकी विधि दीगई है उस ऋतुमें उस रसका अधिक सेवन करना योग्य है। वास्तवमें—

तच्चनित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्ययेनानुवर्त्तते।
अजातानांविकाराणामनुत्पत्तिकरञ्चयत्॥

उस (पथ्य) का नित्य सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्यकी रक्षा हो एवं अनुत्पन्न विकारोंकी जड़ जिससे न जमने पावे।

यदि किसी अंगरेज़ी चिकित्साग्रन्थसे पथ्यापथ्यके निर्देशकी चेष्टा की जाय तो बड़ेही गोल मालमें पड़ना हो एवं व्यवसाय करनेवाले डाक्टरोंकी सहायता लेनेमें भी वैसा कुछ ठीक निर्णय नहीं किया जासक्ता। चालीस वर्ष पहलेके अंगरेजी चिकित्साग्रन्थोंमें मनुष्योंके धातुभेदकी कोई बातही नहीं पाई जाती, उस समय धातु भेदको प्रायः कोई मानताही न था! इस समय यद्यपि धातुभेद स्वीकृत होगया है तथापि द्रव्यादिके रासायनिक विश्लेषणका फलही पाश्चात्य चिकित्साग्रन्थोंमें लिखा रहता है। उन सब फलोंके ज्ञानसे पथ्यापथ्यविचारकी कोई विशेष सहायता नहीं होती। डाक्टरलोगभी केवल इतनाही समझते हैं कि 'जिस पदार्थमें यवक्षार जितना अधिक है वह द्रव्य उतनाही बलवर्द्धक है और जिसमें रसभाग जितना अधिक है वह उतनाही दुष्पच (गरिष्ठ) है। किन्तु अधिक यवक्षार और अधिक रसवाले अनेकानेक पदार्थ हैं, उसमेंसे कौनसा मनुष्यशरीरमें सहजही पचकर उसे परिपुष्ट करता है और कैसे समय व कैसी अवस्थामें शरीरके लिये विशेष उपकारी या अनुपकारी होता है-डाक्टरोंके ग्रन्थोंमें ऐसी सब बातोंकी कहीं चर्चाभी नहीं है! शीतप्रधान देशके निवासी, समधिक दैहिकबलशाली, प्रदीप्तजठराग्निविशिष्ट,

स्थूलेन्द्रियसम्पन्न, सूक्ष्मदर्शनमें हीनशक्ति—ऐसे लोगोंके प्रणीत चिकित्साशास्त्र एवं उन शास्त्रोंकी शिक्षा पाकर उसी जातिके चिकित्सक लोग, कभी धातु, ऋतु और शरीरके भाव, तथा अवस्था एवं द्रव्यके स्वभावको समझकर पथ्यापथ्यके विचार द्वारा स्वास्थ्यकी रक्षा एवं रोगका दमन करनेमें समर्थ नहीं हो सके। महात्मा धन्वन्तरिका वाक्य है—

"नह्यनवबुद्ध(द्रव्य)स्वभावाः भिषजः स्वास्थ्यानुवृत्तिरोग निग्रहञ्चकर्त्तुं समर्थाः।"

किन्तु हमारे स्वदेशीय चिकित्साशास्त्रमें द्रव्यगुण जिसप्रकार लिखे गये हैं वह 'प्रकार' (ढंग) जैसा यथार्थ अभिज्ञतामूलक है, केवल रासायनिकविश्लेषण मूलक नहीं है वैसाही प्रयोगमें सुकर एवं फलमें अत्यन्त कार्य्यकारी है।

शास्त्रमें भारतवासियोंकी प्रधान २ खाद्यसामग्रीके गुणागुण कहदियेगये हैं। धातु, ऋतु एवं अवस्थाके विचारपूर्वक इन सब खाद्यसामग्रियोंका व्यवहार करसकनेसे भलीभांति पूर्णतया स्वास्थ्यकी रक्षा होसकती है। नीचे कुछ उदाहरण दियेजाते हैं—

(१) धान्यादि।

(१) हेमन्तके धान—कुछ वायु और कफके बढ़ानेवाले स्थायी, स्वल्पशुक्रवर्द्धक और मधुररसविशिष्ट होते हैं।

(क) नई कूटके हेमन्तके धान—कफकर, स्वादु, स्निग्ध, शुक्रवर्द्धक और गुरु होते हैं।

(ख) पुरानी कूटके हेमन्तके धान—रूक्ष और अग्निवर्द्धक होते हैं।

(२) बाँसी या बतीसा धान—मधुर एवं अम्लरसविशिष्ट, पित्तवर्द्धक एवं गुरुपक (गरिष्ठ) हैं।

(३) ग्रीष्मऔर शरद्में होनेवाले धान—रूक्ष, पित्तकर और गुरु होते हैं।

(४) श्यामा (साँवा)—शोषक, रूक्ष, वातल (बादी), श्लेष्मा एवं पित्तको नष्ट करनेवाले हैं।

(५) यव—कषाय, मधुर, स्निग्ध, (पाकमें) कटु, कफ और पित्तका नाशक है।

(६) गोधूम (गेहूँ) मधुर, गरिष्ठ, बलकारी, स्थिर, शुक्रवर्द्धक, वात-पित्तनाशक, कफकारी और मलशोधक है।

(क) धानकी खील-छर्दि (वमनरोग), अधिकप्यास, अतिसार, मेह, मेद, कफ, खाँसी, पित्त आदि सब दोषोंको शान्त करती है; आग्नेय और लघुपाक है। *

(७) सेम—(अनेकवर्णकी) रुक्ष और (श्वेतवर्णकी) उत्कृष्ट है अर्थात् पथ्य है।

(८) दाल—(साधारणतः) [पाकमें] मधुर, बलप्रद और पित्तनाशक है।

(क) मूंग—(हरी, पीली) कषाय, मधुर, शीतल, पित्त और श्लेष्माको नष्ट करनेवाली, नेत्रकी ज्योतिको बढ़ानेवाली और कुछ बादी है।

(ख) मसूर—(लाल) संग्राही, बलवर्द्धक एवं (पीली) कृमिकर है।

(ग) माष (उड़द)—अत्यन्त बादी, स्निग्ध, मेद्य, मांस और कफको बढ़ानेवाला है।

(घ) अरहर—कफ और पित्तको नष्ट करनेवाली है।

(ङ) चना—शीत, मधुर, बादी, कफ और रक्तपित्तको नष्ट करनेवाला एवं पुरुषत्वनाशक है।

(९) सर्षप (सरसों)—कटु, वातनाशक और उष्ण है।

(१०) तिल (काले तिलही उत्कृष्ट होते हैं)-गुरुपाक, मेधाको बढ़ानेवाला, रुचिकारी, ग्राही और केशवर्द्धक होता है।

स्निग्धबल्योऽल्पमूत्रोष्णो व्रणलेपहितस्त्वसः।
समाधुर्य्यात्तथोष्णात्वस्नेहाच्चानिलनाशनः॥
कषायभावान्माधुर्य्यात्तिक्तत्वाच्चापि पित्तहा।
औष्ण्यात्कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्चकफेहितः॥

तिल—स्निग्ध, बलकारी, मूत्रलाघवकारी, उष्ण, व्रणमें लगानेसे उपकार करनेवाला है। मधुरता, उष्णता और सरसताके कारण वायुनाशक और मधुर, तिक्त एवं कषाय होनेके कारण पित्तनाशक एवं उष्ण, कषाय और तिक्त होनेके कारण कफकृतदोषोंको दूर करनेवाला है।

* आजकल लोग खीलको छोड़कर, पथ्यविचारसे सागूदाना, अराखट, बार्ली, टेपिओका आदिका समादर करने लगे हैं सो एक महाविडम्बनाका लक्षण है। लेया, चिड़ुवे, सिंघाड़े, यव, गेहूँ, पुराने चावल आदि अति सुलभ देशीय पदार्थोंसे क्या रोगीका पथ्य और क्या मुग्ध प्रौढ एवं बालकबालिकाओंके जलपानकी सामग्री-सभीकुछ सहजमें बनता है तथापि विलायतके बासी एवं रासायनिकद्रव्यमिश्रित विषकूट लर्जेंजस आदि असंख्य कृत्रिम एवं दूषित खाद्योंके प्रति देशीलोगोंका सार्वजनिक लोभ एवं भक्ति प्रतीयमान होती है।

(२) शाक आदि ।

(१) परवल (का फल)—त्रिदोषनाशक है; पत्ते पित्तनाशक हैं, डंठी कफ-नाशक है, एवं मूल (जड़) विरेचनकारी है ।

(२) बथुवा (का साग)—पाकमें लघु, अग्निवर्द्धक (यवक्षारके मिलनेसे) कृमिनाशक और शुक्रजनक है ।

(३) ब्राह्मी—मेधाशक्ति, आयु और स्मृतिको बढ़ानेवाली, बुढ़ापेके दोषोंको दूर करनेवाली, कफ और पित्तको नष्टकरनेवाली एवं स्वरशक्तिको बढ़ानेवाली है ।

(४) निम्ब—पित्त, कफ, छर्दि, व्रण, कुष्ठ—इन दोषोंको निवृत्त करनेवाला एवं हृल्लासहारी (होलदिलको नष्टकरनेवाला) है ।

(५) मूली—गुरु है, कोष्ठ को बांधती है, त्रिदोष उत्पन्न करती है (किन्तु सिद्ध होनेपर) पित्तको उपजाती और कफ व वायुको मिटाती है ।

(६) पालक का साग—कफ और पित्तको शान्त करनेवाला, रूक्ष और वायुवर्द्धक है ।

(७) चौराईका साग—मधुर, शीतल, अजीर्णकारी, पित्तनाशक और गुरु है

(८) तिपतियाका साग—धारक, त्रिदोषनाशक एवं गात्रज्वालानिवारक होता है ।

शास्त्र—सम्बन्धमें साधारणतः कहा गयाहै कि—

> शाकेषुसर्वेनिवसन्ति रोगा रोगोहि देहस्य विनाशहेतुः ।
> तस्माद्बुधैः शाकविवर्जनञ्च कार्य्यं तथाम्लेषु तएव दोषाः ॥
> स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाक्तञ्च प्रशस्यते ।
> सर्वशाकमचक्षुष्यमजाड्यममैथुनम् ॥
> ऋते पटोलवास्तूककाकमाचो पुनर्नवाः ।

शाकोंमें सब रोग निवास करते हैं और रोग ही देहके विनाशका हेतु हैं । इसलिये बुद्धिमानोंको शाकभोजन न करना चाहिये । एवं अम्लमें भी ये ही दोष होनेके कारण वहभी वर्जनीय है । किन्तु शाकको उबालनेके उपरान्त हाथसे दबाकर उसका जल निकालकर तेलमें या घृतमें भलीभाँति पकानेसे उसके दोष दूर होजाते हैं । वह स्विन्न शाक भोजनके लिये प्रशस्त है । साधारणतः परवल, बथुवा, काकमाची और पुनर्नवाको छोड़कर सभी शाक नेत्र की ज्योतिके लिये हानिकारी और शुक्र व मैथुनशक्तिको घटानेवाले हैं ।

(३) तर्कारियाँ ।

(१) (देशी) बाल कूष्माण्ड—पित्तहर है, अर्द्धपक्व कूष्माण्ड—कफनाशक है एवं परिपक्व कूष्माण्ड—लघु, उष्ण, दीपन, वस्तिशोधक, सर्वदोषहर, हृद्य और पथ्य है। कूष्माण्डकी डंडी—गुरु, बात और कफको नष्ट करनेवाली होती है।

(२) लौकी—शीतल, गुरु, मधुर, पित्त और कफको नष्ट करनेवाली एवं बात व श्लेष्माको उत्पन्न करनेवाली होती है।

(३) करेला—कफ और पित्तको नष्ट करता है।

(४) तोरई—कफ और पित्तको नष्ट करनेवाली, गुरु और मल व वायुको बढ़ानेवाली होती है।

(५) जमींकंद—दीपन, कफनाशक, कोष्ठको शुद्ध करनेवाला, लघु और अर्शरोगमें उपकारी होता है।

(६) बंडा—स्वादु, शीतल, गुरु, शोथहर और कटु होता है।

(७) घुय्याँ—आम-बातजनक, गुरु और पित्तवर्द्धक है।

(८) केलेकी जड़—बलकारी, गुरु, बातपित्तहर है।

(९) केलेका फूल—कफनाशक, कृमिनाशक, कुष्ठ-प्लीहा—ज्वरहारी, दीपन और मलशोधक होता है।

(१०) बैंगन—तर्कारियोंमें सर्व्वश्रेष्ठ है—

वार्त्ताकुरेषागुणसप्तयुक्ता वन्हिप्रदा मारुतनाशिनी च।
शुक्रप्रदाशोणितवर्द्धिनी च हृल्लासकाशारुचिनाशिनी च॥
सा बाला कफपित्तघ्नापक्वारुचा च शीतला।
सदाफला त्रिदोषघ्ना रक्तपित्तप्रणाशिनी॥

अर्थात् बैंगनमें सात गुण हैं। अग्निको बढ़ाता, वायुको घटाता, शुक्र और रक्तकी वृद्धि करता और हृल्लास (हौलदिल), खाँसी एवं अरुचिको नष्ट करता है। बाल-बैंगनसे कफ और पित्तके दोष नष्ट होते हैं, पक्व-बैंगन रुक्ष और पित्तल होता है। यह सदा फलता है, इससे त्रिदोष और विशेषकर रक्तपित्तका नाश होता है।

(४) लवणादि।

(१) सैंधव—त्रिदोषनाशक, धातुपोषक, नेत्रोंकी ज्योतिको बढ़ानेवाला, अग्निदीपक, स्निग्ध, मधुर, लघु और रेचक होता है।*

(२) हरिद्रा—कफ, बादीकी सूजन, खाज और व्रणको नष्ट करती है तथा रक्तको शोधती है।

(३) हींग—तीक्ष्ण, अजीर्ण, कफ और वायुके दोषको दूरकरनेवाली, कटु, पाचक, शूलको नष्ट करनेवाली, उष्ण और लघु है।

(४) इलायची बड़ी—तृष्णा (प्यास), छर्दि (उबकाई), कफ, वायु और शुक्रदोषको नष्टकरती है। छोटी इलायची—मूत्रकृच्छ्र, अर्श, श्वास (दमा), कास (खाँसी) और कफदोषको दूरकरनेवाली है।

(५) आर्द्रक-(अदरक) कफ, वात, आमको नष्ट करनेवाला, मलको बाँधनेवाला, शूलको मिटानेवाला, अग्निको दीप्त और धातुको पुष्ट करनेवाला होता है।

(६) लौंग—आध्मान और शूलको नष्ट करती, अग्निको दीप्त करती, लघु और उष्ण है।

(७) मिर्च (सूखी)—रुक्ष, लघु, शुक्रको क्षीण और अग्निको दीप्त करनेवाली होती है।

(८) धनिया (सूखा)—कफ, वायु, दाह, छर्दि और प्यासको मिटाता है।

(९) कुमुद, उत्पल, पद्मका नाल (डंडी)—वायुनाशक, कषाय, पित्तनाशक, (पाकमें) मधुर है।

(१०) तैल—कषाय, अम्ल, बलकारी, रुक्ष, अग्निको दीप्त करनेवाला, उष्ण, और पित्तबहुल होता है।

(क) मांस (साधारणतः) वातहर, बलकारी, स्तंभनकारी, प्रसन्नता देनेवाला, मांसवर्द्धक और गुरु है।

(ख) मत्स्य (साधारणतः)—गुरु, शुक्रवर्द्धक, स्निग्ध, मधुर, कफ-पित्त-वर्द्धकहै। क्षुद्रमत्स्य लघु, ग्राही, संग्रहणी रोगके लिये उपकारी है।

(५) साधारण फलादि।

(१) अनार—हृद्य, अम्ल, उष्ण, वातनाशक, ग्राही, दीपन, रतिशक्तिवर्द्धक कषाय, मधुर, कफ और पित्तका विरोधी है।

(२) आम (कच्चा) रक्तपित्तकर (गद्दर) पित्तबहुल (पक्का) वर्ण-कर, रुचिकारी, मांस-शुक्रबल-वृद्धिकारी, वातनाशक, हृद्य, गुरु और अग्निको प्रदीप्त करनेवाला है। सूखी आमकी फांकें, कषाय, उष्ण, कफ और वातको नष्ट करनेवाली एवं मलभेदकारिणी होती हैं।

(३) कटहल—मधुर, कषाय, स्निग्ध, शीतल गुरुपाक, श्लेष्मा एवं शुक्रको बढ़ानेवाला है ।

(४) केला—मधुर, हृद्य, कषाय, अम्ल, शीतल, रक्तपित्तनाशक, रुचिकारी, रतिशक्तिवर्द्धक, श्लेष्मा उत्पन्न करनेवाला और गुरु होता है ।

(५) नारंगी—हृद्य, अम्ल, अग्निको प्रदीप्त करनेवाली, काशश्वास और अरुचिको नष्ट करनेवाली, तृष्णाको निवृत्त और कोष्ठको शुद्ध करनेवाली होती है ।

(६) नीबू (कागजी)—मधुर, अम्ल, पित्तकर, गुरु, सुगन्धि, दुर्जर, अग्निवर्द्धक, कफ वायु तृष्णा, शूल छर्दि श्वास आदिको निवृत्त करनेवाला होता है ।

(७) इमली (कच्ची)—वातनाशिनी और कफपित्तकारिणी है । (पक्की)—रुक्ष, स्वल्प उष्ण, कफ और वातको नष्ट तथा अग्निको उद्दीप्त करनेवाली होती है ।

(८) आमरा—मधुर, शुक्रवर्द्धक, गुरु, श्लेष्माजनक, शीतल, स्निग्ध और मलको बांधनेवाला होताहै ।

(९) बेल (कच्चा)—कषाय, उष्ण, पाचक, अग्निको उद्दीप्त करनेवाला मलको बांधनेवाला (पक्का) सुगंधि, मधुर, दुर्जर, ग्राही, कफ, वात और शूल को नष्ट करनेवालाहै ।

(१०) नारियल—गुरु, पित्तनाशक, स्वादु, शीतल, बल एवं मांसको बढ़ाने वाला होताहै । (कोमल या कच्चा नारियल)—पित्त, पित्तज्वर, तृष्णा एवं दाहको मिटाता है ।

(११) अमरूद—अम्ल, मधुर, सारक है ।

(१२) सिंघाडा—शीतल, धारक, गुरु और पित्तकर है ।

(१३) कसेरु—शुक्रजनक, वातपित्तहर और शीतल है ।

(१४) ईख—रक्त पित्तनाशक, बलवर्द्धक, रतिशक्तिवर्द्धक कफवर्द्धक, पाकमें, मधुर, स्निग्ध, गुरु और मूत्रजनक है ।

(१५) गुड (पुराना) वातनाशक, रक्तको शुद्धकरनेवाला, पित्तनाशक, मधुर, स्निग्ध, अत्यन्त रतिशक्तिवर्द्धक और वातपित्तनाशक है ।

(१६) शर्करा—पित्तदोष और छर्दिको नष्ट करने वाली, शीतल और व्रणको शोधनेवाली है ।

(१७) हरीतकी (हड़)—ऋतुभेदके अनुसार वर्षाऋतुसे लेकर पर २ ऋतुओंमें क्रमशः सैन्धवलवण, शर्करा सोंठ, पीपल, मधु (शहद) और गुड़के साथ सेवन करनेसे सब दोषोंको दूर करती है ।

सिन्धूत्थशर्कराशुंठीकणामधुगुडैः क्रमात् ।
वर्षा दिष्वभयासेव्यारसायनगुणैषिणा ॥

(१८) आमलकी—

हरीतकीसमंधात्रीफलं किन्तुविशेषतः ।
रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम् ॥
हन्तिवातं तदम्लत्वात्पित्तंमाधुर्य्यशैत्यतः ।
कफंरुक्षकषायत्वात्फलंधात्र्यास्त्रिदोषजित् ॥

धात्रीफल (आमलकी) के गुण हड़के ही समान हैं । इसमें विशेष केवल इतना है कि यह आँवला रक्तपित्त और प्रमेहको नष्ट करता है और आयु व वीर्य्यको बढ़ाता है । यह अम्ल होनेके कारण वातको और मधुर व शीतल होने के कारण पित्तको तथा रूक्ष व कषाय होनेके कारण कफको नष्ट करता है । अर्थात् यह त्रिदोषनाशक है ।

(६) जलादि

जलमें इन सात गुणोंका होना आवश्यकहै । जल-स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धि (दुर्गंधहीन अच्छी मृत्तिकाका जल), संसृष्टरस (स्वयं स्वादविहीन), हृद्य एवं प्यासको बुझानेवाला होना चाहिये । [जिस जलमें विशिष्टरूपसे सूर्य की किरणें नहीं लगतीं अथवा जो वायुके द्वारा विशोधित नहीं होता वह (शशि सूर्य्यकिरणानिलैरजुष्ट) जल सुपरिष्कृत होनेपर भी श्लेष्माको बढ़ाता है । इसी लिये पाइपके जलको भी गरम कर लेना आवश्यकहै ।]

उल्लिखित लक्षणयुक्त पवित्रजल ही वास्तवमें शरीरके लिये उपकारी है [सोडावाटर, लेमोनेड, जिंजरेड आदि क्षारादियुक्त जल अपकारी ही हैं उपकारी नहीं हैं ।]

सिद्ध (पका) जल—कास, श्वास, ज्वर, कफ, बात, आम, अजीर्ण—इन सब दोषोंको मिटाता है । यह थोड़ा सा पित्तजनक एवं किञ्चित् वस्तिशोधकहै । अरुचि, प्रमेह, शोथ (सूजन), क्षयरोग, मन्दाग्नि, नेत्ररोग, व्रण, मधुमेह इन सब दोषोंमें रहते थोड़ा २ जलपान करना चाहिये ।

कच्चे नारियलका जल—रतिशक्तिवर्द्धक, स्वादु, गुरु, पित्तनाशक है; विशेष कर रक्तवर्ण नारिकेलका जल पित्तदोषजनित समस्त रोगोंको शान्त करता है । पके नारिकेलका जल कोष्ठको बाँधनेवाला और गुरु है ।

(७) दुग्धादि ।

(१) गोदुग्ध—जीवनस्वरूप, बलकारी, रक्तपित्त और वायुको नष्ट करने वाला, आयुवर्द्धक, पुष्टिकारी एवं रसायनहै ।

[यूरोपखंडके लोग जहाजपर बैठकर समुद्रमें आते जातेहैं । इसी लिये उनको (पर्युषित, बासी) पदार्थोंके व्यवहारका अभ्यास हो गयाहै। उनको जहाजमें पर्य्याप्त परिमाणसे दुग्ध नहीं मिलता, इसी कारण उन्होंने सुइसमिल्क और मिल्क पाउडर आदि कृत्रिम पदार्थोंकी सृष्टि की है । किन्तु इस देशके अनुकरण प्रिय अँगरेजी शिक्षित लोग घरमें रहकर भी बच्चोंको सुइसमिल्क खिलानेके लिये व्यस्त हैं !]

(२) भैंसका दूध—मधुर, अतिशीतल, गुरु, निद्राकारक, अग्निको मंद करनेवाला, (गुनगुना) कफ-वातनाशक (कुछ ठंढा) पित्तनाशक है ।

(३) बकरीका दूध—मधुर, शीतल, ग्राही, दीपन, वात-पित्त एवं क्षय कासको नष्ट करनेवालाहै ।

(४) सलवणदुग्ध, फटादुग्ध, विवत्सा एवं बालवत्साका दुग्ध वर्जनीयहै । बालवत्साका अर्थात् प्रसवकालसे लेकर दसदिनके भीतरका दुग्ध पीनेखानेके अयोग्यहै ।

(८) दधि आदि ।

(१) गऊका दही—वातनाशक, स्निग्ध (पाकमें) दीपक और बलवर्द्धक होताहै ।

(२) भैंसका दही—अतिस्निग्ध, रक्तपित्तको शान्त करनेवाला, (पाकमें) मधुर, रतिशक्तिवर्द्धक, गुरु और कफवर्द्धक है । दधि अत्यन्त खट्टा हो जानेसे रक्तको दूषित करके कफ़ और पित्तके दोषको उत्पन्न करदेता है ।

(३) मट्ठा (निर्जल)—पित्त-वातनाशक और कफवर्द्धक होता है ।

(४) मट्ठा (चतुर्थांशजलमिश्रित)—लघु, कषाय, अम्ल और दीपन होताहै । सैन्धव लवण मिलाकर सेवनकरनेसे वातनाशक, शर्करा मिलाकर सेवनकरनेसे पित्तनाशक एवं त्रिकटु एवं क्षारद्रव्य मिलाकर सेवन करनेसे कफनाशक है ।

(५) गोघृत—नेत्र की ज्योति और बलको बढ़ाने वाला (पाकमें) मधुर, शीतल, वात-पित्त नाशकहै । कहा भी है—"आयुर्वैघृतम्", घृत ही आयु है ।

भैंसकाघृत—स्वादु, मधुर शीतल, गुरु, वातपित्त एवं रक्तपित्तको नष्ट करनेवाला तथा बलवर्द्धक है ।

विरुद्धभोज्य ।

(१) गम्या पशुका मांस, अनूपज अर्थात् अधिक जलयुक्त देशजात मांस, सब प्रकारके मत्स्य, उड़दकी दाल गुड़, मूली और सहिंजनका साग एवं दुग्ध इन वस्तुओंको परस्पर मिलाकर न खाना चाहिये ।

(२) घृत, मधु (शहद) एवं मांसके साथ मूलीका पाक वर्जितहै ।

(३) इक्षुविकार एवं मधुके साथ मत्स्यका पाक वर्जितहै ।

(४) ठंढेभातको फिर गर्म करके न खाना चाहिये ।

(५) दही, मट्ठा, दुग्ध या तालफलके साथ एकमें मिलाकर केलेके फलको न खाना चाहिये ।

(६) पके हुए मदारके फलको कभी दुग्धके साथ या मिलाकर न खाना चाहिये।

(७) आमरा, खट्टा नीबू मदार का फल, करौंदा, केलेका फूल, कमरख, बेर, चालिदा * जामुन, कैथ, इमिली, अखरोट, कटहल, नारियल, अनार, अँवला एवं सब प्रकारके (द्रव और अद्रव) अम्लपदार्थ दुग्धके विरुद्धभोज्यहैं अर्थात् उन्हें साथ या मिलाकर न खाना चाहिये ।

(८) मधुको गर्म करके न खाना चाहिये ।

(९) कांस्यपात्रमें दस दिनतक रक्खा रहा घृत खाने योग्य नहीं रहता ।

भक्ष्यपदार्थोंके आयुर्वेदसम्मत गुण दोषादि को बताकर एवं उनमें परस्पर-विरुद्ध भोज्यों के कई एक उदाहरण देकर शास्त्रने कहा है कि अपथ्य भोजन और परस्परविरुद्धभोजनसे उत्पन्न दोष-विरोचन, वमन, शयन एवं हितभोजन (अनुकूलभक्ष्य *) के गुण से शान्त हो सक्ता है । विशेषकर तरुणअवस्थावाले अथवा व्यायाम करनेवाले † या बली एवं प्रदीप्त-अग्निसम्पन्न व्यक्तियोंके

---

* कुछएक अनुकूलभक्ष्य यहाँपर उदाहरणस्वरूप लिखे जातेहैं । नारियल और ताल फलके अनुकूल चावलोंसे बनी चीजें आमको दूध, घृतको नींबूका रस, जामनका रस, खट्टा फल । केले के फल को घृत गेंहूको ककड़ी । नारङ्गीको गुड़ । मछलीको कच्चा आम । मधु (शहद) को तैल । कटहरको केला । चावलको पतला दूध । पकौड़ियों को भात । दूधको भंगकी दाल । करेला, मूली, लाई, पोई, पालक, परवल, चौलाई को सफेद सरसों । मटर, कसेरु, खजूरके गुड़ को अदरक जामनको लवण । खिचड़ीको सेंधा नमक । दहीको लवण और जल ।

† व्यायामके सम्बन्धमें कई एकश्लोक उद्धृतकर दियेजाते हैं । कुश्ती लड़ना, मुग्दर हिलाना, पैदल टहलना, तैरना आदिक ही इस देशके उपयोगी व्यायामहैं । अवस्था और शरीरके अवस्थाभेदके अनुसार व्यायाममें भी विभिन्नता होती है । अधिकव्यायामभी रोगजनक होता है इसके अतिरिक्त एकादशीव्रत करनेवालेको दशमी, एकादशी और द्वादशीके दिन व्यायाम न करना चाहिये ।

शरीरमें यह (उक्त) दोष बहुधा कुछभी अनिष्ट नहीं करता । किन्तु उन सब द्रव्योंका भोजन स्मृतिशास्त्र में निषिद्ध है, अतएव निषिद्धभोजनजनित पाप कभी व्यर्थ नहीं होसक्ता ।

व्यायामोहि सदापथ्यो बलिनांस्निग्धभोजिनाम् ।
सचशीतेवसन्तेचतेषां पथ्यतमः स्मृतः ॥
सर्व्वेष्वृतुषुसर्व्वैर्हिंशूरैरात्महितार्थिभिः ।
शक्त्यर्धेनतुकर्त्तव्यो व्यायामोहन्त्यतोऽन्यथाम् ॥
कुक्षौललाटेग्रीवायां यदाघर्म्मः प्रवर्त्तते ।
शक्त्यर्द्धंतद्विजानीयाद्दायतोच्छ्वासमेवच ॥
लाघवंकर्मसामर्थ्यं स्थैर्य्यं क्लेशसहिष्णुता ।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्चव्यायामादुपजायते ॥
व्यायामं कुर्व्वतोनित्यं विरुद्धमपिभोजनम् ।
विदग्धमविदग्धम्वानिर्दोषंपरिपच्यते ॥
नचव्यायामसदृशमन्यत् स्थौल्यापकर्षणम् ।
नचव्यायामिनम्मर्त्यम्मर्द्दयन्त्यरयोबलात् ॥
नचैनंसहसाक्रम्य जरा समधिगच्छति ।
रक्तपित्ती क्षयीशोषी कासीश्वासी क्षतातुरः ॥
भुक्तवान् स्त्रीषुच क्षीणो व्यायामं परिवर्जयेत् ।
वातपित्तामयी बालोवृद्धोऽजीर्णीचसंत्यजेत् ॥

अर्थात् बलवालों और स्निग्ध (तर) भोजन करनेवालों के लिये व्यायाम सदा पथ्य और शीतकाल तथा वसन्तऋतु में अत्यन्त हितकारी है । अपना हित चाहनेवाले शूर पुरुषों को सभी ऋतुओंमें आधी शक्तिसे व्यायाम करना चाहिये क्योंकि वह सब व्याधिओंको दूरकर स्वस्थ बनाता है । कोख, मस्तक और गर्दन में जब पसीना निकल आवे और हांफने लगे तब आधी-शक्ति का व्यायाम सम्पन्न समझना चाहिये । व्यायाम करनेसे शरीर में लाघव (फुर्ती) आजाताहै, कामकरनेकी सामर्थ्य बढ़ती है, स्थिरता होती है, क्लेश सहनेकी शक्ति बढ़ती है, सब प्रकारके दोष (रोगादि) दूर होते हैं और अग्निवृद्धि होती है । जो कोई नित्य नियम-पूर्वक व्यायाम करताहै वह चाहे विरुद्धभोजनभी करे या विदग्ध अथवा अविदग्ध भोजन करे सब पचजाता है और किसी प्रकारके दोषको नहीं उपजाता । स्थूलता (बातकस बोदेपन) को मिटानेवाला व्यायामके समान अन्य उपाय नहीं है । जो मनुष्य व्यायाम करता है उसे बलपूर्वक शत्रुगण पीड़ा नहीं पहुँचा सके और सहसा बुढ़ापा नहीं शिथिल करसक्ता । किन्तु रक्तपित्त, क्षय, शोष, कास, श्वास, क्षत आदि से आतुर पुरुष और स्त्रीसंगकी अधिकताके कारण क्षीण पुरुष को एवं जो भोजन कर चुका हो उसको व्यायाम न करना चाहिये । वात पित्तरोगी, बालक, वृद्ध और जिसे अजीर्णदोष हो वह भी व्यायाम को न करे ।

शास्त्रकी यह बात समझनेमें तनिक यत्नकी आवश्यकता है । बालक एवं बोधविहीन लोग समझते हैं कि 'हमने खानेकी सामग्रीको खालिया, उससे यदि कोई रोग उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं है तो और क्यादोष होगा ?' विशेषकर सर्वभोजी यूरोपियन् लोगोंमें एक यह कहावतहै कि 'जो मुखके भीतर जाता है उसमें पाप नहीं होता, किन्तु जो मुखके भीतर से बाहर आता है (अर्थात् वाक्यादि) उसी में पाप हो सक्ताहै' । यह यथार्थ बात नहीं है, बालकोंकी भांति स्वल्पदर्शीकी बात है । अन्नदोषसे रोगको छोड़कर अत्यन्त गुरुतर दोष भी हो सक्ता है । आहारके गुणदोषानुसार मनुष्यके स्वभावका भी परिवर्त्तन होता है । जब शरीरयन्त्रमें पाकक्रियाके द्वारा मथित होकर ही अन्तष्करण आदिका संगठन होता है तब यह बात स्वतःसिद्ध है कि भोजन के गुण-दोष अन्तष्करण की वृत्तियों में संक्रामित होंगे । इतना ही नहीं, आहारके गुण-दोष एक पुरुषसे उसके परवर्ती पुरुषोंमें भी संक्रामित होते हैं । सूक्ष्मदर्शी शास्त्र ने इसी अदृष्टद्वार दोषको सुस्पष्टरूप से प्रत्यक्ष देखकर द्विजातियोंके लिये कुछ एक सत्वगुण विरोधी पदार्थों के खाने का निषेध किया है ।

लशुनंगृञ्जनञ्चेवपलाण्डुंकवकानिच ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानिच ॥

लहसुन, गाजर, प्याज और छत्राक (धर्तीके फूल आदि) एवं अमेध्य (विष्ठा आदि) के संसर्गसे उत्पन्न सम्पूर्ण पदार्थ द्विजातियोंके लिये अभक्ष्य हैं ।

इन्द्रिय (रसना) के अतितृप्तिकर द्रव्यादिके सम्बन्धमें भी शास्त्रकी सनिर्बन्ध विधि यह है कि वैसा पदार्थ बिना देवतोंका भोग लगाए कदापि न खाना चाहिये ;

वृथाकृसरसंयावंपायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानिहवींषि च ॥

वृथा (अपनी इन्द्रिय तृप्तिके लिये—देवतोंके उद्धेशसे नहीं) कृसर (तिल तण्डुल मिलाकर पकाया गया अन्न), संयाव (घी, दूध, गुड़ और गेहूँके आंटे से बनीहुई लपसी), खीर और पुवे एवं असंस्कृत (देवतोंको अनिवेदित) मांस, देवतों का अन्न (भोगलगानेसे पहले) न खाना चाहिये और हवि (पुरोडाशके) अन्न को (हवन से प्रथम) न खाना चाहिये ।

ऊपरके लिखे हुए आहार अधिक रुचिकर एवं इन्द्रियतृप्तिकारी हैं । देवता एवं अतिथिके लिये प्रस्तुत होनेसे ये आहार लालसाका उद्रेक कर

प्रकृति को क्षुद्र नहीं बना सके । इसीलिये देवता एवं अतिथि के लिये इनके प्रस्तुत करने की विशेष विधि बनाई गई है ।

और भी कई वस्तुओंके खानेका निषेध किया गया है। दशदिनके भीतर ब्याई हुई गऊका दूध, ऊँटनीका, गर्दभादि एकशफ (जिनके खुर बीचसे फटे नहीं होते) पशुओंका और भेंड़ी, भैंस, बकरी एवं सन्धिनी (जो गऊ गाभिन होनेको वृषभकी इच्छासे रँभाती हो) गऊका तथा जिसका बछड़ा मरगया हो या समीप न हो उस गऊका दूध न पीना चाहिये ।

इन सब निषेधोंके मूलमें पथ्यका विचार है, और आहारमें सात्विकताकी रक्षाका उपाय भी है । पूर्वोक्त अवस्थाओंमें गऊ आदिके दुग्धका पीना साक्षात् सम्बन्धमें पीड़ा जनक और चित्तको अवनत बनानेवाला है एवं उस दुग्धको अपने काममें लाना परम्परासम्बन्धमें छोटे २ बछड़े बछियोंके प्रति नृशंसताको प्रकट करनेवाला है । यही कारण है कि उसके पीनेका निषेध किया गया है ।

कालवश विकृतिको प्राप्त सब वस्तुओंका खाना पीना निषिद्ध है । विकृत वस्तुओंके खानेसे सतोगुणका ह्रास और तमोगुणकी वृद्धि होती है । इसीलिये दूध एवं दधिसंभव पदार्थोंको छोड़ कर सब प्रकारके शुक्तद्रव्य अभक्ष्य हैं । जो मधुररसविशिष्ट वस्तु कालवशसे विकारको प्राप्त होकर खट्टी होजाय उसे शुक्त कहते हैं, जैसे सिर्का, विनिगार, कांजिका आदि । और पुष्प, मूल, फल एवं जल मिलाकर भपकेमें खींचेगये (अर्कआदि) पदार्थ भी यदि शुक्त अर्थात् मत्तताजनक न हों तो भक्षणीय हैं ।

दिनमें दो बार न भोजन करना चाहिये । यदि एक बारसे अधिक भोजन करनेकी आवश्यकता हो तो फल, मूल आदि खालेनेमें कोई दोष नहीं है ।

"दिवापुनर्नभुञ्जीतचान्यत्रफलमूलयोः"

और भी कई प्रकारके दूषित अन्न हैं । जैसे मत्त, क्रोधके वशीभूत और व्याधियुक्त व्यक्तिका अन्न, विद्वान् द्वारा निन्दित अन्न, क्रूर पुरुषका अन्न, शत्रुका अन्न, पिशुन (चुगली करनेवाले) का अन्न, मिथ्यावादीका अन्न, ऊँचेस्वरसे पुकार कर दिया हुआ अन्न, बहुतसे एकत्र हुए मठवासियोंका अन्न, अवज्ञापूर्वक दियागया अन्न, वाणीसे दूषित और भावसे दूषित अन्न, गर्भ गिराकर उसकी हत्या करनेवाली स्त्रीका देखाहुआ अन्न, चोरका अन्न, गवैयेका अन्न, व्याध का अन्न, स्त्रीजित पुरुषका अन्न, पैरोंसे माड़ागया अन्न, रजस्वलाने जिसे छुआ हो वह अन्न, वेश्या, का अन्न, जूठा अन्न, जूठन खानेवालेका अन्न, सूतिकान्न,

जननाशौच (वृद्धसूतक) का अन्न, पतितका अन्न, जिसके ऊपर किसीने छींक दिया हो वह अन्न, मरणाशौचका अन्न, व्यभिचार करनेवाली स्त्रीका अन्न, व्याज खानेवालेका अन्न एवं जिसमें केश और कीड़े पड़गये हों वह अन्न; ये सब दूषित अन्न अभक्ष्य हैं ।

इन्हीं कई एक कारणोंसे, जान पड़ता है इन अन्नोंके खाने का निषेध किया गया है—उद्वेगजनक अथवा सन्देहजनक, अथवा विरागजनक अथवा घृणाजनक अथवा अपवित्रताजनक अथवा देनेवाले के लिये क्लेशजनक या साक्षात्सम्बन्धमें हानि पहुंचानेवाले भोजनको न खाना चाहिये। ऐसे भोजनसे चित्त मलिन होता है ।

मास, तिथि और वार आदिमें जिन भिन्न २ पदार्थोंका भोजन निषिद्ध है उनके निषेधकी कोई युक्ति प्राकृतबुद्धिसे नहीं दिखलाई जासक्ती । किन्तु इतना अवश्य कहा जासक्ता है कि शास्त्रकी स्पष्टविधि को न मानना अच्छा नहीं है । उक्त प्रकारसे भिन्न २ मास, तिथि और वारोंमें जिन २ वस्तुओंका खाना निषिद्ध है उनकी एक तालिका नीचे दी जाती है—हरिशयनके समय अर्थात् आषाढ़के शुक्लपक्षकी एकादशी से लेकर कार्तिकके शुक्लपक्षकी द्वादशीतक श्वेतसेम, पर्वल लोबिया, कदम्ब, नारी का साग, बैंगन और कैथ न खाना चाहिये । कार्तिक के महीनेमें मत्स्य मांस न खाना चाहिए । कार्तिकके शुक्लपक्षकी एकादशीसे पूर्णिमा पर्यन्त "बकपञ्चक" कहलाता है । इन पाँचदिनोंमें मत्स्यमांसका सेवन एकान्त निषिद्ध है । भाद्रमासमें लौकी एवं माघमास में मूली न खाना चाहिये । संक्रान्तिके दिन मांसभोजन निषिद्ध है।

प्रतिपदाको कूष्माण्ड, द्वितीया को कण्टारी, तृतीयाको पर्वल, चतुर्थीको मूली, पञ्चमीको बेल, षष्ठीको निम्ब, सप्तमीको ताल, अष्टमी को मांस और नारियल, नवमी को लौकी, दशमी को करेमी, एकादशीको शेम, द्वादशीको सतपुतिया, त्रयोदशीको बैंगन, चतुर्दशीको उर्द की दाल और मांस एवं पञ्चदशीको (अमावास्या और पूर्णिमा को भी) मांस खाना निषिद्ध है ।

रविवारको उर्दकी दाल, मांस, मसूर, नीम, अदरक, एवं लालसाग, आमिष न खाना चाहिये । मंगलवारको भी मांस न खाना चाहिये ।

श्वेतवर्ण का ताल, गोल-वर्तुलाकार लौकी, कुन्दपुष्पतुल्य श्वेत हो तो और श्वेत, कुसुमसाग और श्वेतवर्ण कलमीसाग न खाना चाहिये । स्त्रियोंको कभी मांस न खाना चाहिये ।

भोजनसम्बन्धी इन निषेध-विधियोंके होनेपर भी शास्त्रमें कहा गया है ।

प्राणस्यान्नमिदंसर्वंप्रजापतिरकल्पयत् ।
जङ्गमंस्थावरञ्चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥

सृष्टिकर्त्ता प्रजापतिने सभी वस्तुओंको प्राणके अन्नरूपसे उत्पन्न किया है । स्थावर (फल, मूलादि और अन्न) एवं जंगम (पशुमांसादि)-सभी जीवधारियों के आहारकी सामग्री हैं ।

इसका तात्पर्य्य यह है कि आहारका वैसा ही अभाव होने पर भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं किया जाता । प्राण-रक्षाके लिये सभी पदार्थ खाये जा सक्ते हैं ।

भोजन करनेके समय अपने अभीष्टदेवताको अन्न-निवेदन किया जाता है। जो अपने खानेके लिये बनाया गया हो वही इष्टदेवको अर्पण करना चाहिये—

"यदन्नः पुरुषोराजन्तदन्नास्तस्यदेवताः ।"

अन्न परोसनेके सम्बन्धमें एक नियम यह है—

लवणंव्यञ्जनञ्चैव घृतंतैलन्तथैवच ।
लेह्यं पेयञ्च विविधं हस्तदत्तं न भक्षयेत् ॥

नमक, व्यञ्जन, घृत, तेल और अनेक प्रकारके लेह्य (चाटनेकी चीज़ें अँचार आदि) और पेय (पीनेके) पदार्थोंको हाथसे न देना चाहिये । यदि कोई इन पदार्थोंको हाथसे परोसे तो न खाना चाहिये ।

व्यञ्जन आदि उक्तपदार्थोंके परिशुद्धरूपसे न परोसे जानेसे जो वितृष्णा एवं घृणाके उद्रेकसे चित्तमें मलिनता छा जाती है उसके प्रति दृष्टि रख कर यह नियम बनाया गया है ।

योभुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्चभुङ्क्ते विदिङ्मुखः ।
सोपानत्कश्चयो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥

शिरमें वस्त्र लपेट कर अथवा कोण-मुख बैठ कर या जूते पहन कर भोजन करना असुरों (नीचों) का व्यवहार है । सात्त्विकताके विरोधी ये सब व्यवहार रजोगुणवर्द्धक हैं और इसी लिये वर्जित हैं ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टंतस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

बहुत अधिक भोजन करनेके दोषसे शरीरका स्वास्थ्य बिगड़ता है, आयु क्षीण होती है, स्वर्गप्राप्तिमें विघ्न होता है । क्योंकि फिर आलस्य अधिक होनेसे

कोई भी उत्तम काम नहीं बन पड़ता) अधिक भोजन अपवित्र और लोकविरुद्ध है । इसलिये अति भोजन वर्जित है ।

अतिभोजन करना अतिनीच एवं अपवित्र व्यवहार है- इसमें कोई सन्देह नहीं है । यह घोर तमोगुण (आलस्य, मोह) का आश्रय है । इसी लिये दृढ़रूपसे इसका निषेध किया गया है ।

भोजन समाप्त होते ही फिर आचमन करनेमें विलम्ब न होना चाहिये । भली भांति आचमनकर मुखशुद्धि करनी चाहिये ।

भुक्त्वाचामेद्यथोक्तेन विधानेन समाहितः ।
शोधयेन्मुखहस्तौचमृद्भिर्घर्षणैरपि ॥

भोजनके अन्तमें विधिपूर्वक आचमन करना चाहिये, प्रयोजन जान पड़ने पर मुख एवं हाथोंको मृत्तिका, जल सहित घर्षणपूर्वक शुद्ध कर लेना उचित है । बाह्यसम्बन्धमें मुख और हाथोंको एवं आन्तरिक सम्बन्धमें मनको पवित्र रखनेके लिये ऐसी व्यवस्था की गई है ।

किन्तु केवल आचमन और हस्तपदप्रक्षालन कर लेनेसे ही पवित्रता नहीं हो जाती । "घरमें जूठन न भिनकती रहे"—यहभी शास्त्रका उपदेश है ।

आचान्तोऽप्यशुचिस्तावद्यावत्पात्रमनुद्धृतम् ।
उद्धृत्याप्यशुचिस्तावद्यावन्नोच्छिष्टमार्ज्जनम् ॥

हाथ पैर धोने और कुल्ला करने पर भी जबतक जूठे बर्त्तन समेट कर शुद्ध नहीं किये जाते और बर्तनोंके मांजे जाने पर भी जब तक जूटन हटा कर चौका नहीं लगाया जाता तब तक पूर्ण पवित्रता नहीं होती । इस नियम का पालन करनेसे गृहस्थके घरमें जूठन नहीं भिनका कर जैसे ही भोजन समाप्त हो जाता है वैसे ही पात्र उठाकर मांज डाले जाते हैं और स्थान परिष्कृत कर दिया जाता है; घरमें दुर्गन्धि नहीं आती; काक, कुत्ते, बिल्ली आदि जन्तु जूठनको यहां वहां लेजाकर बिखराने नहीं पाते । आजकल बहुतसे घरोंमें रातके जूठे बर्तन दूसरे दिन सबेरे मांजे जाते हैं । यह हिन्दूधर्मविरुद्ध व्यवहार है ।

पान खानेके सम्बन्धमें लिखा गया है—

पर्णमूले भवेद्व्याधिः पर्णाग्रेपापसम्भवः ।
जीर्णपर्णंहरेदायुः शिराबुद्धिविनाशिनी ॥

पानके मूलमें व्याधिका वास है, पानके डंठलमें पाप रहते हैं, जीर्ण पानके खानेसे आयु क्षीण होती है और पानकी नस बुद्धिको विनष्ट करती है ।

इसी विधिके प्रभावसे हमारे देशमें पानके मूल, अग्रभाग एवं नसको खोंट कर पान लगाने की रीति प्रचलित हुई है । कोई २ सद्गृहस्थ पानकी सब छोटी बड़ी नसोंको निकालकर उसे खाते हैं । महाराष्ट्रीय लोगों में इस विधि का प्रायः पूर्ण परिपालन होता है। ताम्बूल खा चुकने पर फिर एक बार आचमन कर विशेषश्रमके काम न करके जो काम अनायास किये जा सक्ते हों उन्हें आलस्य-रहित होकर करना चाहिये । अर्थात् शारीरिक काम अधिक न करना चाहिये ।

चतुर्थ अध्याय ।

नित्याचार प्रकरण ।

अपरान्ह, सायान्ह एवं रात्रिका कृत्य ।

आहारके उपरान्त स्वस्थ होकर चित्तके प्रशान्त होने पर आसन पर बैठ कर छठे और सातवें यामार्द्धके कृत्यमें प्रवृत्त होना चाहिये । इन दोनों यामार्द्धोंमें उद्वेगशून्य होकर चित्तको प्रसन्न करने वाले और धर्म एवं ज्ञानके बढ़ानेवाले कर्मोंमें मन लगाना होता है ।

इस समय अनेकानेक ब्राह्मणसन्तान यज्ञोपवीतसमयकी आज्ञा (मा दिवा स्वाप्सीः, अर्थात् दिनको न सोना) को भूलकर भोजनके उपरान्त शयनागार में जाकर सो रहनेके अभ्यासी हो रहे हैं । किन्तु शास्त्रमें इसका निषेध किया गया है ।

दिवास्वप्नं न कुर्वीत स्त्रियञ्चैव परित्यजेत् ॥
आयुःक्षीणा दिवा निद्रा दिवास्त्री पुण्यनाशिनी ॥

दिनको सोना और स्त्रीसंग करना वर्जित है क्योंकि दिनमें सोनेसे आयु क्षीण होती है और दिनको स्त्रीसंग करनेसे पुण्यका नाश होता है ।

किन्तु दिनको न सोना चाहिये, इसके कहनेका यह भी तात्पर्य नहीं है कि व्यर्थ खेल कूद आदि व्यसनोंमें उस समयको नष्ट करदेना । ब्राह्मणके लिये ताश, पाँसा, सोलही आदि द्यूतक्रीड़ा निषिद्ध है ।

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरम्महत् ।
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपिबुद्धिमान् ।

पूर्व समयमें देखागया है कि द्यूत (जुंए) से अनेक लोगोंमें अनर्थकारी वैरभाव होगया है अतएव हँसीमें भी, जी बहलानेके लिये भी जुआँ न खेलना चाहिये । बुद्धिवान् मनुष्यको इसका पूर्ण ध्यान रहना चाहिये ।

आर्य्यशास्त्र किसी प्रकार द्यूत आदि अनिष्टकारी क्रीड़ाओं को समाजमें प्रश्रय नहीं देसक्ता । आर्यशास्त्र सदैव कार्य्यकारणसम्बन्धमें नित्यता एवं दृढ़ता की शिक्षा देनेमें प्रयत्नशील एवं सर्वत्र सत्वगुणका पक्षपाती है । द्यूत आदि अदृष्ट-परीक्षक व्यापारोंकी आलोचनामें कार्य्यकारणसम्बन्धके विचारका अभ्यास न्यून या शिथिल हो पड़ता है एवं अकिञ्चत्कर-तुच्छ विषयमें आग्रह बढ़नेके कारण तमोगुणकी पुष्टि होतीहै यह विशेषरूपसे कह दिया गया है——

इतिहासपुराणानि धर्म्मशास्त्राणि चाभ्यसेत् ।
वृथाविवादवाक्यानि परीवादञ्चवर्ज्जयेत् ॥

इतिहास, पुराण और धर्म्मशास्त्रोंका पठन-पाठन और मनन करना चाहिये एवं वृथाकी बातचीत, वादविवाद, लड़ाई-झगड़ा एवं परनिन्दाकी चर्चा न करनी चाहिये ।

तदनन्तर दिनके शेषभागमें घूमनेके लिये घरसे निकलना और मिलनेवाले इष्टमित्रोंसे एवं शिष्ट पुरुषोंसे सदालाप करना उचितहै ।

"अह्नः शेषं समासीत शिष्टैरिष्टैश्चबन्धुभिः ।"

इस प्रकार छठे, सातवें यामार्द्धके भी कुछ समयके व्यतीत होने पर सूर्यास्त* समयसे एक घड़ी पहले सायंकालकी 'सन्ध्या' का समय उपस्थित होता है ।

यहां पर सन्ध्याकृत्यके सम्बन्धमें एक बात समझानेकी चेष्टा करेंगे । प्रातः सन्ध्या, मध्यान्हसंध्या एवं सायंसंध्या, इन तीनों संध्याओंके मन्त्र आदि प्रायः एकसमान हैं, इनका अनुष्ठान भी वैसा कुछ विभिन्न प्रकारका नहीं है "अहरहः

---

* मुसल्मान लोगोंके मतमें बहुत लोगोंका एकत्र मिलकर 'इबादत' करना उचित है । किन्तु स्त्री और पुरुषोंका एकत्र मिलकर इबादत करना निषिद्ध है । दोपहर पर एक बजे मुसल्मानोंकी दूसरी इबादतका समय है एवं द्रव्यच्छाया द्विगुणित होनेसे सूर्य्यास्त पर्य्यन्त तीसरी इबादतका समय है एवं सोनेसे पहले अथवा (हो सके तो) बड़े प्रातःकाल शयनसे उठकर पांचवीं इबादतका समय है ।

सन्ध्यामुपासीत" (अर्थात् प्रतिदिन संध्योपासनाकरना)—इस वैदिकविधिके अनुसार संध्यावन्दन करना होता है । सन्ध्यावन्दनके कार्यका उद्देश्य अतिगुरुतर न होता तो उसके अभ्यासके लिये इतना अधिक अनुरोध न होता अर्थात् इस प्रकार बारम्बार सावधान न किया जाता एवं उसकी एक मात्रा या एक अक्षर च्युत होने पर प्रायश्चित्त करनेकी विधि न होती । वह उद्देश्य क्या और कितना भारी है, सो समझना उचित है ।

सन्ध्योपासनसम्बन्धी मन्त्रोंके प्रति सामान्य दृष्टि करनेसे ही जाना जाता है कि इन मन्त्रोंमें से कुछ वैदिक ऋचाएँ और कुछ एक पौराणिक ध्यान आदि हैं । यदि कुछ मन लगाकर देखा जाय तो जान पड़ता है कि उन ऋचाओंकी एक प्रकारसे व्याख्या कर देना ही पौराणिक मंत्रोंका उद्देश्य है एवं वही उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये ही दोनों परस्पर एक हैं । यदि वैसे गुरुकी कृपाके बलसे कोई सात्विक दृष्टि प्राप्त कर ले तो वह सन्ध्योपासनमें ही ब्राह्मण जीवनके उच्चतम उद्देश्योंको सुपरिस्फुटरूपसे लखकर कृतार्थ हो सक्ता है ।

जगत्के सब विषयोंकी गठनप्रणालीके समान संस्कृतशास्त्र की गठन-प्रणालीमें भी सर्वत्र स्तर (श्रेणियाँ, तहैं या सोपान) लक्षित होते हैं । संस्कृत व्याकरण में जैसे सूत्र, वृत्ति और उदाहरण—इन त्रिविध स्तरों का समावेश है वैसे ही संस्कृतके दर्शनशास्त्र, पुराण एवं वेदमें भी स्तरविन्यास हैं । एक स्तरसे दूसरे स्तरको छुड़ा लेनेके लिये चेष्टा करना व्यर्थ, अपकारी एवं विधिविरुद्ध है । पाश्चात्य छुरीके द्वारा संस्कृत शास्त्रकी छाल छुड़ाने से हाथमें केवल गुठली-मात्र रह जाती है और सम्पूर्ण 'अमृतपदार्थ' का अपचय होजाता है ।

पाश्चात्य पण्डितोंके अनुयायी व्याख्यानमे अवधारित होगा कि सन्ध्यो-पासनकर्म केवल जड़ोपासन मात्र है और जो २ स्थल अत्यन्त कष्टकल्पनासे भी जड़ोपासनाके मन्त्रस्वरूपमें परिकल्पित नहीं हो सक्ता वही २ स्थल 'प्रक्षिप्त' है !

इस प्रकार की अस्वार्थ और अमूलक व्याख्याका परिहार करते हुए पहले यह कहना है कि जिन तीनों स्तरोंके समवायसे सन्ध्यावन्दनका संघटन हुआ है, उनकी एकवाक्यता द्वारा जो प्रकृत एवं विशुद्ध तात्पर्य प्रकाशित होता है वही हमारे जाननेयोग्य है ।

ऋक्, यजुः, साम—इन तीनों वेदोंकी सन्ध्यावन्दन विधि अविकल एक न होने पर भी स्थूलरूपसे एक है । यजुर्वेद और सामवेदकी सन्ध्यामें परस्पर बहुत ही

थोड़ा भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यासे उक्त दोनों सन्ध्याओंमें कुछ अधिक विभेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यामें ऋचाओंकी संख्या अधिक है, सामवेद और यजुर्वेदकी संध्याओंमें-विशेषकर सामवेदकी संध्यामें उन्हीं २ स्थलोंपर "नमोस्तु" मन्त्र पढ़ दिया जाता है।

अतएव जो मन्त्रादि तीनों वेदोंकी संध्याओंमें साधारणरूपसे पाये जाते हैं वे सभी सबकी अपेक्षा गुरुतर विषयका उल्लेख करते हैं-इस कारण उनके स्थून २ तात्पर्य्यको दिखलाकर हम यह समझाने की चेष्टा करेंगे कि ब्राह्मणाचारमें सन्ध्यावन्दन कर्मका क्यों इतना समादर है।

सन्ध्योपासनका उद्देश्य निम्नलिखित पौराणिक वचनमें अत्यन्त सुस्पष्ट रूपसे कहा गया है।

नत्वातुपुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये।
ब्रह्मवर्च्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे॥

कमलनयन हरिको प्रणामकर संचित पापकी शान्ति एवं ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये हम प्रातःसंध्याकी उपासना करते हैं।

इसमें प्रातः सन्ध्याका विशेषरूपसे उल्लेख रहनेसे यह न समझना चाहिये कि मध्यान्हसन्ध्या और सायंसन्ध्याके विषयमें यह वाक्य संघटित नहीं होता। शास्त्रके मतमें सन्ध्यावन्दनाके उद्देश्य दो हैं। एक, उपात्त अर्थात् समुत्पन्न पापका नाश और दूसरा ब्रह्मतेजका लाभ।

अब पहले प्रथम उद्देश्य पर विचार करते हैं। किसी उद्देश्यके सिद्ध करनेमें उसके अनुकूल शक्तिका प्रयोग करना होता है। शक्तिका विकास तीन प्रकारसे देखा जाता है। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। सन्ध्यावन्दन-द्वारा जो पाप नष्ट होनेकी बात कही गई है उसके अनुकूल किस २ शक्तिका किस २ प्रकार प्रयोग होता है सो दिखाते हैं।

सन्ध्याके प्रथम अर्थात् स्नान-मंत्रमें जलके निकट जैसे बाह्यमलसे वैसेही अन्तर्मल अर्थात् पापसे रहित होनेके लिये इच्छा प्रकट की गई है। इस प्रकारकी इच्छासे युक्त स्नानकर्ममें इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति, दोनों शक्तियों की कार्यकारिता प्रतिपन्न होती है। किन्तु इस विषयमें इन दोनों शक्तियोंके ऊर्द्ध्ववर्ती एवं अग्रवर्ती ज्ञानशक्ति भी विद्यमान है। इस स्नानमन्त्रका सहयोगी

पाप-मार्जन मन्त्र बतलाता है कि जो जल शरीरके मलको मिटाता है वही जल स्नेहमयी जननीके समान शरीरका पोषण करता है एवं सृष्टिव्यापारमें वह जल ही प्रथमसृष्ट वस्तु है। वह जल जिस परम शिवतम (कल्याणमय) रस का प्रतिरूप है-इसको उसी रस (परमानन्दमयब्रह्म) में संयुक्त कर देनेकी सामर्थ्य रखता है। अतएव स्नानमन्त्रमें क्रिया, इच्छा एवं ज्ञान, तीनों शक्तियाँ पापप्रक्षालनार्थ नियुक्त हैं।

सन्ध्याके द्वितीयमन्त्रमें प्राणायामका आदेश है। प्राणायामके तीन अङ्ग हैं। प्रथम, निःश्वासका पूरण, धारण और रेचन (छोड़ना)। द्वितीय, इन सब प्रक्रियाओं के क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयस्थलमें पालनकर्ता विष्णुका ध्यान एवं मस्तकमें संहारकारी शंभुका ध्यान। तृतीय, ऊपरोल्लखी क्रिया एवं ध्यानके साथ इस तात्पर्यके मन्त्रको पढ़ना कि "समस्त विश्वब्रह्माण्ड उसी ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित होरहा है"। इसस्थलमेंभी देखा जाता है कि प्राणायामके प्रथम अङ्गमें क्रियाशक्तिका, द्वितीय अङ्गमें इच्छाशक्ति का एवं तृतीय अङ्गमें ज्ञानशक्तिका विशेष विकास होता है। प्राणायाम प्रक्रिया के द्वारा शरीररूप क्षुद्रब्रह्माण्डके साथ विश्वरूप बृहत् ब्रह्माण्डकी अभिन्नता प्रतिपादित होकर पापका विलोप साधित होता है।

इसके उपरान्त आचमनका प्रकरण है। इस प्रकरणमें हाथमें जल लेकर उसके कुछ अंशको कंठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको मस्तक पर छिड़क लेना होता है। इससे क्रियाशक्ति प्रकट होती है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासनके समयसे लेकर उपस्थित सन्ध्याके समय पर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा जो तीव्र अभिलाषाका ज्ञापन है, वह इच्छाशक्तिका कार्य है। और (प्रातः सन्ध्यामें) बाह्यजगत्के सूर्यस्थानीय हृदयस्थ अन्तर्ज्योतिमें, (मध्यान्ह सन्ध्यामें) देह और देहीके अति घनिष्ठ सम्बन्धके बोधपूर्वक जलमें एवं (सायं सन्ध्यामें) परमात्माके सत्य ज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। ये भाव ज्ञानशक्तिसम्भूत हैं। अतएव आचमन व्यापारमें भी त्रिविध शक्तियोंके समावेशसे उसका पापनाशक होना सिद्ध है।

सन्ध्योपासनमें पापनाशके लिये क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति का बारम्बार एकसाथ प्रयोग हुआ, किन्तु 'अनुताप' करनेसे पापका क्षय

होताहै—इस प्रकारकी जो लोक में प्रसिद्धि है उसका (अनुतापका) कोई उल्लेख नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि 'अनुताप' कहनेसे दो बातें समझी जाती हैं, एक तो पापजनित दुःख एवं द्वितीय पापके न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा। इन दोनोंमें प्रथम तो पापके फलका भोगमात्र है एवं द्वितीय इच्छाशक्तिके कार्य से अभिन्न है। अतएव अनुतापके जिस भागमें पापीका कर्तृत्व है एवं जो भाग पापप्रक्षालनमें विशेषकार्यकारी है सो इच्छाशक्तिके ही अन्तर्गत है; इसीसे उसका स्वतन्त्र उल्लेख नहीं है।

सन्ध्योपासनका द्वितीय उद्देश्य जो ब्रह्मतेजकी प्राप्ति है, पाप-नाशके अतिरिक्त अन्य किस प्रकारसे एवं किस २ क्रियाके द्वारा उसके सिद्ध होनेकी सम्भावना है—यही इस समय विचारना है। 'ब्रह्मतेज' ऐसी वस्तु नहीं है कि अतिशय आग्रहके साथ चाहनेसे ही वह पाया जा सके। किसी द्वारमें आघात कर आर्यशास्त्रके लक्षित ब्रह्मतेजके पानेका पथ उन्मुक्त करना नहीं होता। इसीलिये इस स्थल पर इच्छाशक्तिकी तीव्रताका कोई प्रयोजन नहीं है; वरन् यह सिद्धिमें कुछ बाधा डालने वाली है। इच्छाशक्तिकी न्यूनतासे क्रियाशक्तिका भी लाघव होता है। क्योंकि ये दोनों रजोगुणमयी हैं। जहां इच्छा कम है वहां कार्यभी कम होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके विषयमें ज्ञानशक्तिका ही मुख्य अधिकार है। सन्ध्योपासनके जिन दो मुख्य प्रकरणोंका विचार अब भी अवशिष्ट है, उन दोनोंमें ही विशेषरूपसे ज्ञानशक्ति की कार्यकारिता प्रकट है। ज्ञान कहनेसे केवल बुद्धिवृत्तिसे उत्पन्न 'पदार्थ-ग्रहण' का ही नहीं समझना चाहिये किन्तु भाववृत्तिके विषयीभूत 'वस्तुग्रहण' को भी समझना चाहिये। पदार्थके संकलन, विकलन आदिके द्वारा तथ्यकी उपलब्धि जैसे ज्ञानका अंग है वैसे ही सौन्दर्यबोध, विस्मय, प्रीति, भक्ति आदि उच्च एवं पवित्र भावों द्वारा चित्तको प्रशस्त और उदार बनाना भी ज्ञानका एक अंग है।

सन्ध्या में सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएं या मन्त्र हैं उनमें पहला मंत्र—उदय होनेवाले दिनमणि (सूर्य) के दर्शन से जीवमय जगत् में जिस आनन्दके उत्सका उच्छ्वास प्रवहमान होता है, उसी आनन्दका अनुपम गाथास्वरूप है—

"विश्व—प्रकाशके लिये रश्मिगण (किरणें) सूर्यको वहन किये लिये

आती हैं। सूर्यदेव अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीके चक्षुस्वरूप एवं सम्पूर्ण चराचर जगत्के आत्मारूप हैं”

सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी 'मुद्रा' का प्रयोग किया जाता है उससे जान पड़ता है कि उपासक जैसे सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत होता है। विश्वब्रह्माण्डके प्रति इस प्रकारके प्रेम एवं भक्तिपूर्ण दृष्टिद्वारा चित्तकी उदारता एवं पवित्रता बढ़ती है। सूर्योपस्थानके उपरान्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्यान्ह समय सावित्री एवं सायंकाल सरस्वती नामसे उसी एक ही महादेवीके त्रिविध रूपोंका ध्यान करना होता है। एक ही शक्ति भिन्न २ समय में भिन्न २ रूप धारण करती है—इस चिन्ताके अभ्याससे तथ्य-ज्ञानका उन्मेष होता है। यद्यपि कुछ पानेके लिये अभिलाषाकी अधिकता अच्छी नहीं है, तथापि (उसके) ग्रहण में उन्मुखता न होने से कुछभी पाना दुर्घट हो उठता है। इसी कारण ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये सर्वदा 'ग्रहण (लेने) में उन्मुखता' का अभ्यास करना आवश्यक है। इसी अभ्यास में प्रवृत्त करानेके लिये गायत्री—जपकी विधि है। गायत्रीके जपमें कोई प्रार्थना नहीं है, किसी आकांक्षाका प्रकाश नहीं है, किसी अपराधका स्वीकार नहीं है एवं न किसी प्रकारकी दीनता दिखाई गई है। केवल यही कहा गया है कि 'जो ब्रह्मतेज हमारी बुद्धि-वृत्तिका प्रेरक है, हम उसी तेजका ध्यान करते हैं'।

क्षुद्र ब्रह्माण्ड (शरीर) और बृहत् ब्रह्माण्डको अभिन्न देखनेका क्रमशः अभ्यास होने पर अभिमान मिट जाता है एवं 'जो सूर्यज्योति जगत्का जीवन है वही मुझमें आत्मारूपसे अवस्थित है'—यह बात निरन्तर ध्यान या चिन्तनके द्वारा समझ लेने पर “योसावादित्येपुरुषः सोऽहमस्मि” अथवा “तत्त्वमसि”—यह बोध दृढ़ होता है; यही ब्रह्मज्ञान है। इसी प्रकार निरन्तर ध्यान या चिन्तन करने से जीव को 'तादात्म्य' (तन्मयता) की प्राप्ति होती है। एवं इसी एक मात्र मार्गसे ही ब्राह्मणको ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो सक्ती है। सन्ध्याकर्मके करनेसे इसी 'ज्ञान' के पथमें पदार्पण होता है, इसी कारण सन्ध्याका इतना गौरव है एवं गायत्रीजप जो सन्ध्याकृत्यका शिरोभाग वा मुख्य अंग कहकर निर्दिष्ट हुआ है उसका कारण यही है कि वह (गायत्रीजप) और कुछ नहीं ब्रह्म-चिन्तन मात्र है।

सन्ध्या कर्मके सम्बन्धमें यह विशेष विधि है कि “मन्त्रार्थज्ञाने यतितव्यम्”

मन्त्रका अर्थ जाननेका यत्न करना चाहिये । यदि सन्ध्यावन्दनके प्रकृत अर्थग्रहणका बोध विलुप्तप्राय न होता तो कोई भी ब्राह्मणसन्तान कभी दूसरे धर्म की इच्छा न कर सकता ।

सन्ध्योपासन नित्यकर्म है । किन्तु इसका भी अधिक फल कहा गया है-

सन्ध्यामुपासतेयेतु सततं संयतव्रता: ।
विधूतपापास्तेयान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

जो लोग संयमपूर्वक नित्य सन्ध्योपासन करते हैं वे पापरहित होकर व्याधिशून्य ब्रह्मलोकको जाते हैं ।

पश्चिम अथवा वायुकोण की ओर मुखकर सायंकाल की सन्ध्या करनी चाहिये एवं सम्मुखस्थित आकाशमें जबतक नक्षत्र तारागण देख पड़ें तबतक गायत्री का जप करना चाहिये ।

रात्रिके प्रथमयाम (अर्थात् ६ बजेसे ९ बजेतक) में दिनमें किये गये सब कार्योंकी आलोचना कर जो २ वैधकार्य्य प्रमादवश अर्थात् भूलसे रहगया हो उसकी पूर्तिकरनी चाहिये ।

दिवोदितानिकर्माणिप्रमादादकृतानिच ।
शर्वर्या: प्रथमे यामे तानिकुर्य्यादतन्द्रित: ॥

शास्त्रोक्त दैनिक कृत्योंमें से जो कृत्य प्रमाद (विस्मृति अथवा अन्य किसी विपत्तिजनक कारण) वश करनेसे रह गये हों, रात्रिके प्रथम याममें आलस्य त्यागपूर्वक उन्हें करना चाहिये ।

इस विधिके रहनेसे वर्तमान आपत्कालमें लोगोंको बहुत कुछ सुविधा हो गई है । मध्यान्हसंध्या, देवपूजा, तर्पण, हवन. वैश्वदेव, बलि, नित्यश्राद्ध, अतिथिसत्कार एवं गोग्रासदान-ये सब कार्य चाकरी करनेवाले ब्राह्मणोंकी मण्डलीसे एक प्रकार उठगये हैं । कोई कोई मध्यान्हसंध्या, तर्पण आदि कर्मोंको प्रात: संध्या आदिके साथ ही कर डालते हैं, किन्तु अन्य अवशिष्टकार्य प्राय: नहीं किये जाते । वे रात्रिके प्रथम याममें किये जा सकते हैं एवं वैसा करनेसे नित्यकर्मके न करनेका दोष नहीं होता ।

वास्तवमें नित्याचारके सब कर्म यथासमय किये जायँ, अन्तत: गौणकालमें ही किये जायँ-इस विषयमें शास्त्रका विशेष यत्न देखा जाता है । अनुष्ठान (करने)

से ही शिक्षणीय विषयका संस्कार सुदृढ़ होता है। ज्ञान पड़ता है इसीकारण आर्य्यशास्त्रमें 'अनुष्ठान' का असीम गौरव है। इसमें बाह्य कार्य्य (अंगसञ्चालन) होता है अतएव इसके द्वारा स्नायु एवं पेशीमण्डलकी, उस २ कार्यके उपयोगी विशेष २ व्यवस्थाका सौकर्य्य होता है एवं उससे सम्पूर्णशिक्षा और संस्कारकी दृढ़ता एवं स्थिरता सम्यक्रूपसे साधित होती है। हमारे अँगरेज़ीशिक्षित नव्यसम्प्रदायके लोग जैसे सभी अनुष्ठानोंके प्रति श्रद्धाहीन होगये हैं, किन्तु उनको शिक्षा देनेवाले यूरोपियन् लोग सकल विविधव्यापारोंमें ही 'ड्रिल' वा अङ्ग-सञ्चालन कराते रहते हैं—यह निरन्तर देखकर भी वे 'यही अनुष्ठानका अङ्ग है'—इस तथ्यको नहीं समझ सके। अनुष्ठानका एक मुख्य अङ्ग 'मुद्रा' है। यूरोपियन् पंडित अगस्टकोम्टने भी मुद्राका माहात्म्य समझ कर अपने शिष्योंको दान-मुद्रासदृश हस्त-भंगिका अभ्यास करनेके लिये उपदेश दिया है।

बहुकाल पर्य्यन्त सम्पूर्ण अनुष्ठानके अनुसरण द्वारा अभ्यास सुदृढ़ होने पर उच्च अधिकारीको वाह्यअनुष्ठान त्यागकर केवल मानस कार्य्यमें प्रवृत्त करनेके लिये शास्त्रमें मानसीक्रिया की बहुत २ प्रशंसा देखी जाती है। मानसस्नान, मानसपूजन और मानसजप—ये तीनो अनुष्ठान बाह्यस्नान, बाह्यपूजा और बाह्यजपसे श्रेष्ठ हैं। कई एक उदाहरण दिखलानेसे ही शास्त्रका यह गंभीर तात्पर्य सुस्पष्टरूपसे समझमें आ जायगा।

(१) शौचके सम्बन्धमें कहा गया है—

गङ्गातोयेनकृत्स्नेनमृद्भारैश्चनगोपमैः।
आमृत्योः स्नातकश्चैव भावदुष्टो न शुद्ध्यति॥

यदि आन्तरिक भाव दूषित है तो जन्मसे मरण पर्य्यन्त पहाड़ इतने मृत्तिकाके ढेर और समग्र गंगाजलसे स्नानकरनेसे भी शुद्धि नहीं होती।

(२) स्नानके सम्बन्धमें वायव्यस्नानको ही अन्य सब स्नानोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है और मानस स्नानको उससे भी श्रेष्ठ माना है।

वायव्यान्मानसञ्चैवसर्वस्नानात्परंवरम्।
मर्त्यश्चेन्मानसस्नातः सर्वत्रविजयीभवेत्॥

(जलस्नान आदि से वायव्यस्नान श्रेष्ठ है और) वायव्यस्नानसे मानस-स्नान श्रेष्ठ है। मानस स्नान सभी स्नानो से उत्तम और श्रेष्ठ है। मानसस्नान करनेवाला मनुष्य सर्वत्र विजय पाता है।

(३) यज्ञ (जप) के सम्बन्धमें कहा गया है—

यावन्तः कर्मयज्ञाःस्युः प्रदिष्टानि तपांसिच।
सर्वेते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
माहात्म्यं वाचिकस्यैतज्जपयज्ञस्य कीर्तितम्।
तस्माच्छतगुणोपांशुः सहस्रो मानसः स्मृतः॥

जितने प्रकारके कर्मयज्ञ एवं तपकी विधियां हैं वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके समान नहीं हैं; यह वाचिक जपका माहात्म्य है। इससे शतगुण उपांशु जप (जिसमें केवल होंठ हिलते हैं, शब्द नहीं सुन पड़ता) की महिमा है एवं मानस जपका माहात्म्य सहस्रगुण है।

मानस जपके सम्बन्धमें और भी एक विशेष बात कही गई है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापिगच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान्मनसैव समभ्यसेत्॥

अशुचि अथवा शुचि अवस्थामें बैठे हुए चलते और शयन किये हुए-सब अवस्थाओं में, एकमात्र मन्त्रनिष्ठ विद्वान् व्यक्ति मनमें ही मंत्रका अभ्यास कर सक्ता है।

(४) पूजाके सम्बन्ध में कहागया है—

बाह्यपूजा प्रकर्तव्या गुरुवाक्यानुसारतः।
अन्तर्य्यागात्मिका पूजा सर्वपूजोत्तमामता॥
बहिः पूजा विधातव्या यावत् ज्ञानं न जायते।
जाते ज्ञानेच देवेशि देवतामूर्त्तिभावना॥

गुरुकी आज्ञाके अनुसार बाह्यपूजा करनी चाहिये। अन्तर्य्याग वा मानसी पूजा सब पूजाओंसे अत्यन्त उत्तम है। जब तक हृदयमें ज्ञानका उदय न हो तब तक बाह्यपूजा करनी चाहिये। हे देवेशि! ज्ञानका उदय होनेपर मनमें केवल देवमूर्त्तिकी भावना करनी चाहिये।

अतएव इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है कि आर्य्यशास्त्र बाह्य अनुष्ठानकी अपेक्षा मानसअनुष्ठानको समधिक प्रधानताको स्वीकृत करता है। बरन् नित्याचार प्रकरणमें जितने देवसम्बन्धी अनुष्ठानोंका उल्लेख है वे सभी मनके द्वारा भलीभांति किये जा सक्ते हैं। गौतमऋषिका एक वचन यह है कि—

"यदाऽसमर्थस्तदामनसासमग्रमाचारमनुपालयेत्"

जब असमर्थ हो तब मनसे ही सब आचार—कृत्योंको निबाहे ।

अतएव शरीर द्वारा अथवा केवल मन द्वारा, जो २ दिनके कृत्य छूट गये हों उन सबको रात्रिके प्रथम यामार्द्ध में पूर्ण करके तदनन्तर रात्रि-भोजनके पूर्वकृत्यस्वरूप वैश्वदेव, बलि एवं अतिथिसत्कार करनेके उपरान्त स्वयं भोजन करना चाहिये । दिनके अतिथिकी अपेक्षा रात्रिके अतिथिका गौरव अधिक है ।

रात्रिके आहारके सम्बन्धमें शास्त्रकी दो आज्ञाएं हैं । प्रथम आज्ञा यह है कि रात्रिके समय अत्यन्त तृप्त होकर भोजन न करना चाहिये अर्थात् रातको खूब पेट भरकर न खाना चाहिये ।

देखते हैं कि अंगरेज़ लोग भी इस विधानको मानते हैं किन्तु अंगरेज़ी पढ़े देशीय लोग प्रायः इस नियमको नहीं मानते । इनमें एक यह भ्रमपूर्ण संस्कार है कि निद्रित दशामें आहार भली भांति पचता है; इसलिये रातको अधिक भोजन कर लेते हैं । किन्तु वास्तवमें निद्राके समय भोजनकी सामग्री देर में पचती है; यूरोपियन् डाक्टरभी इस मतका समर्थन करते हैं । कहनेका तात्पर्य यही है कि शास्त्रकी विधिको मानकर रातको खूब पेट भरकर न खाना ही अच्छा है ।

रात्रि-भोजनके सम्बन्धमें शास्त्रकी दूसरी आज्ञा यही है कि रात्रिके भोजनके उपरान्त कुछ ठहरकर सोना उचित है । खानेके उपरान्त वैसे ही लेट रहनेसे आहार भलीभांति नहीं पचता । यूरोपियन डाक्टरोंसे पूछने पर वे भी यही बात कहते हैं । अन्तर इतना ही है कि शास्त्रमें भोजनके उपरान्त थोड़ी देर ठहरकर शयन करनेकी व्यवस्था है और उनके मतमें अधिक समय तक ठहरना उचित है । शास्त्रमें, अपने भृत्यों—अनुचरोंको रात्रिमें जो २ कुछ करना होगा उसकी आज्ञा देकर कुछ एक मंत्रों और सूक्तोंको पढ़कर सोनेकी आज्ञा दी गई है ।

शय्याके सम्बन्धमें कुछ एक शास्त्रकी उक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

नाविशालां न वै भग्नां नासमां मलिनां न च ।
नच जन्तुमयीं शय्यामधिगच्छेदनास्तृताम् ॥
नशुक्रेणापविच्चेव न तृणे नच भूतले ।
तूलिकायां तथावस्त्रे शय्याभावे स्वपेद् गृही ॥
स्वपेच्चपट्टवस्त्रेश्च कलाङ्क कम्बले न च ।

अर्थात् बहुत छोटी, टूटी, ऊंची-नीची, मलिना, जन्तुमयी और जिस पर

बिछौना न बिछा हो— ऐसी शय्या पर न शयन करना चाहिये। वीर्यपातद्वारा अपवित्र बिछौने पर, तृणपर, पृथ्वी पर न सोना चाहिये । यदि शय्या न हो तो गृहस्थ पुरुष रूईका वस्त्र बिछाकर उसपर शयन कर सक्ता है, रेशमी कपड़े पर एवं कलङ्कयुक्त (दाग़ी) कम्बलपर न सोना चाहिये ।

शुचौदेशे विविक्तेषु गोमये नोपलिप्तके ।
प्रागुदक्प्लवनेचैव सम्विशेत्तु सदाबुधः ॥
माङ्गल्यम्पूर्णकुम्भञ्च शिरः स्थाने निधापयेत् ।
वैदिकैर्गारुडैर्मन्त्रै रक्षांकृत्वा स्वपेत्ततः ॥

विद्वान् पुरुष शुचि और एकान्त स्थानमें गोमय-लिप्त (किन्तु भीगी हुई नहीं) पृथ्वीपर शय्या बिछावे। शय्याके ऊपरका बिछौना दिवाल या किसी और सामग्री से सटा हुआ न रहे । सदा जलपूर्ण कलश सिरहाने रखकर * एवं वैदिक और तन्त्रोक्त गारुड़ मन्त्रों द्वारा अपनी रक्षाकर शयन करना चाहिये ।

धान्यगोविप्रदेवानां गुरूणाञ्चतथोपरि ।
नचापि भग्नशयने नाशुचौ नाशुचिः स्वयम् ॥
नार्द्रवासा न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः ।

अन्नके ऊपर, गऊ—ब्राह्मण-देवता—गुरुजन आदिसे ऊँचे पर या टूटीशय्या पर, अपवित्र शय्यापर अथवा स्वयं अपवित्र रहकर या आर्द्रवस्त्र धारण किये या नग्नहोकर या उत्तर और पश्चिमकी ओर शिर कर न शयन करना चाहिये।

त्रिदोषशमनी खट्वा तुलावातकफापहा ।
भूशय्या वातलातीवरूक्षा पित्तास्रनाशिनी ॥
सुशय्या शयनं हृद्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम् ।
श्रमानिलहरम्वृष्यं विपरीतमतोन्यथा ॥

पलङ्ग या तख़्त पर सोनेसे त्रिदोषकी शान्ति होती है। रूईके बने बिछौने पर सोनेसे वात और कफकी शान्ति होती है। पृथ्वी पर सोना वातको बढ़ानेवाला रूक्ष, और पित्त तथा अस्रुजलको दूर करनेवाला है । सुशय्या पर शयन करना

* यूरोपियन वैज्ञानिकोंके मतमें भी यह उपकारी है। वे कहेंगे कि बंद घरमें एक जलपूर्ण कलश रख देनेसे घरके भीतरकी अनेक प्रकारकी दूषित गैस उस जलमें घुल जाती है एवं घरकी वायु बहुतकुछ विशुद्ध हो जाती है और वह रक्खा हुआ जल ख़राब होजाता है। इसी कारण सोनेके घरमें जल रखना उचित है।

तृप्ति, पुष्टि, निद्रा और धैर्यको देनेवाला तथा श्रम व वायुके दोषको मिटाने वाला एवं बलवर्द्धक है; कुशय्या पर शयन करनेका फल इससे विपरीत है।

रात्रिके कृत्योंकी विधिके मध्यमें स्त्री-गमनसम्बन्धी कुछ शास्त्रके वचन हैं। उनमें की कुछ मुख्य २ बातें यहां पर उद्धृत की जाती हैं—

(१) परदाररतिः पुंसामुभयत्रापिभीतिदा।
मृतो नरकमभ्येति हीयतेऽत्रापि चायुषः।

परस्त्रीगमनकी अभिरुचि दोनो लोकोंमें भयदायक है। मरनेपर नरक-यातना मिलतीहै और यहां भी आयुका क्षय होता है।

(२) तुनिमत्वा स्वदारेषु ऋतुमत्सुबुधो व्रजेत्।

यह जानकर पण्डितको सदा ऋतुकालमें अपनी भार्यासे सहवास करना चाहिये।

(३) षोडशर्तुनिशा स्त्रीणां तासु युग्मासुसंविशेत्।

मासिक रजोदर्शनके दिनसे सोलह रात्रियोंतक स्त्रियोंका ऋतुसमय (गर्भाधानयोग्यसमय) होता है। उनमें भी युग्म अर्थात् समरात्रियोंमें सहवास करना चाहिये।

(४) षष्ठ्यष्टमीममावास्यामुभे पक्षेचतुर्दशी।
मैथुनं वर्जयेत्द्वादशीञ्चममप्रियाम्॥

षष्ठी, अष्टमी, अमावास्या, दोनों पक्षोंकी चतुर्दशी, मेरी (विष्णुकी) प्यारी द्वादशीको और सूर्यसंक्रान्तिके दिन स्त्रीसेवन न करना चाहिये।

[इनके अतिरिक्त कईएक नक्षत्र और वार भी वर्जित हैं]

(५) चतुर्थी प्रभृत्युत्तरोत्तराप्रजाऽनिःश्रेयसार्थम्।

रजोदर्शनके चतुर्थदिनके उपरान्त जितने अतिकालमें गर्भाधान किया जाय उतना ही सन्तानके लिये मंगल है।

(६) रजस्युपरतेसाध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला।

रजस्वला साध्वी स्त्री रक्तस्राव बंदहोनेपर स्नान करके शुद्ध (गर्भ-धारणके योग्य) होती है। अर्थात् रजस्रावकी निवृत्तिहुए बिना स्नान करना और स्वामीसे सहवास करना विहित नहीं है

ऊपर लिखीहुई पाँचवीं और छठी--दोनो विधियोंका उल्लंघन करनेके कारण इस समय अपकृष्ट और स्वल्प आयुवाले सन्तानोंकी संख्या बहुत ही

क्रमसे बढ़ती जाती है। यहूदी जातिमें उनके शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार स्त्री-दर्शनके उपरान्त नव दिन बीत जानेपर स्त्रीसंग किया जाता है। इस नियम का पूर्णतया भलीभांति पालनकरनेके कारण पृथ्वीमें सर्वत्र उनके लड़की-लड़के सबल, पुष्टशरीर और चिरजीवी होते हैं।

(७) ऋतुकालाभिगामीस्यात् यावत्पुत्रो न जायते।

जबतक पुत्र न उत्पन्नहो तभीतक ऋतुकालमें ही स्त्रीगमन कर्त्तव्य है। तदनन्तर स्त्रीकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये यद्यपि ब्राह्मण अन्य समयमें भी पहगमन करसकता है किन्तु अपनी इच्छामें स्त्रीसहवास अप्रशस्त है।

गृहस्थके उत्तम श्रेष्ठ सन्तान हो--इस विषयमें विशेष यत्न करने पर भी आर्यशास्त्र का ऐसा मन्तव्य नहीं है कि उसके अधिक सन्तान हो।

यस्मिन्नृणंसन्नयति येनचानन्त्यमश्नुते।

स एव धर्म्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः।

जो उत्पन्न होकर (पिताके) ऋणको चुका दे और जिससे आनन्त्य (वंशरक्षा) हो वह (ज्येष्ठ) पुत्र ही धर्म्मज पुत्र है, अन्यपुत्र कामज हैं।

शास्त्रकारों का प्रथमतः ऐसा मत होने पर भी उन्होंने देखा कि मनुष्यके जितने सन्तान होते हैं उनमें लगभग आधे के शैशवमें ही मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। इसी कारण महाभारत के समयमें ही कह दियागया था--

एकपुत्रोह्यपुत्रोमेमतः कौरवनन्दन।

हे कौरवनन्दन! मेरे मतमें जिसके एक ही पुत्र है वह अपुत्र ही समान है। इसीसे एकसे अधिक पुत्र उत्पन्न करने की व्यवस्था दे दीगई है।

बहुपुत्र उत्पन्न करने के सम्बन्ध में जो अन्य व्यवस्थाएँ पुराण आदि में पाई जाती हैं वे बहुपुत्र उत्पन्न कराने की प्रशंसा के लिए नहीं हैं, अन्यान्य विषयों का अर्थवाद मात्र हैं।

इष्टावैबहवः पुत्राः यद्यप्येकोगयां व्रजेत्।

बहुत पुत्र इष्ट अर्थात् अभीप्सित हैं, यदि उनमें से एक भी गया करे। यहाँपर स्पष्ट ही देखाजाता है कि श्रीगयाधामका माहात्म्य प्रसिद्ध करना ही इस वचन का उद्देश्य है।

वास्तव में शास्त्रनिर्दिष्ट यथायोग्य ऋतुके लक्षणको जानकर गर्भाधान की अवस्थाका भलीभाँति पालन करनेसे एवं प्राजापत्य आदि वेदोक्त कर्म

करनेसे पिता, माताके शरीर और मनका भाव ऐसा विशुद्ध होता है कि सहजात दोषके कारण सन्तानकी अकालमृत्यु बहुत ही कम होती है । सुतराम् वंशकी रक्षाके लिये अधिक सन्तान उत्पन्न करनेका प्रयोजन ही नहीं होता ।

राजसी प्रकृतिके अनेक यूरोपियन् पण्डितोंका कथन है कि लोगोंकी भोगवासना बढ़ने पर फिर वे विवाह करना नहीं चाहते, क्योंकि विवाह होनेसे ही वंश बढ़नेके कारण गृहस्वामीका व्यय बहुत बढ़जाता है एवं वह अनेक भोगोंके सुखोंसे वंचित रहता है । इसी कारण विलासिता की वृद्धिसे समाज की जनसंख्या की अतिवृद्धिको रोक रखते हैं । किन्तु आर्य्यशास्त्रने जनसंख्या की वृद्धिको रोकनेके लिये ऐसे अतिअनिष्टकारी उपायका अवलम्बन नहीं किया, विवाह द्वारा वंशरक्षाका उपाय बताकर अयथारूपसे वंशवृद्धिका निषेध कर दिया है । सभी स्थलोंमें आर्य्यशास्त्रकी दृष्टि जैसी सुदूरगामिनी है वैसे ही उसकी कार्यप्रणाली भी सर्वतोभावसे अत्यन्त शुद्ध है ।

नित्याचार-प्रकरण ।

पञ्चमअध्याय ।

प्रकरणका उपसंहार ।

शास्त्रविहित नित्याचारकी जो बातें पूर्वगत कई एक अध्यायोंमें (१) प्रातःकृत्य (२) पूर्वान्हकृत्य (३) मध्यान्हकृत्य (४) अपरान्हकृत्यादि शीर्षक देकर कही गई हैं उन सबकी प्रकृतिकी पूर्ण आलोचना करनेसे देखा जाता है कि शरीर एवं मनको शुचि तथा स्वस्थ बनाते हुए (१) इन्द्रियतोषणका एकान्त परिहार (२) सावधानता एवं आत्मसंयमका दृढ़ अभ्यास (३) एकमात्र पराये लिये—परोपकारमें जीवन अर्पण कर देना (४) पापप्रक्षालन में प्रवृत्ति (५) संसार मात्रसे प्रेम आदि अति उन्नत गुणों कोस्थायी भावमे स्थापित करना ही नित्याचारपद्धतिका उद्देश्य है। शान्तशील, मुक्तिपरायण, पवित्रताप्रेमी ब्राह्मणोंके लिये इस पद्धतिका उद्भव हुआ है । वे इस समय भी पूर्ण या अपूर्ण मात्रासे इसका अनुसरण करते हैं एवं उनके चरित्रमें सम्यक्‌रूपसे या थोड़ी बहुत यह पद्धति देखनेमें आती है ।

भारतवासी अन्यान्य वर्णोंके लोग भी अपनी२ सामर्थ्यके अनुसार, जहां तक हो सक्ता है, इस पद्धतिको सीख कर एवं यथासाध्य इसका अनुसरण कर कष्ट सहनेवाले, धीर और धर्मभीरु हैं; क्योंकि ब्राह्मणका आचार ही सब भारतवासियोंके लिये सदाचारका आदर्श बताया गया है ।

आर्यऋषियोंके धर्मशासन या धर्मशिक्षा देनेके सम्बन्धमें इस "आदर्शनिर्देश" व्यापारको कुछ विशेष विवेचना करके समझनेका प्रयोजन है । सभी धर्मोंमें (१) पापसे भय दिलानेवाले तिरस्कार एवं (२) पुण्यके प्ररोचनामय पुरस्कारके सम्बन्धमें अनेकों बातें रहती हैं । उनके अतिरिक्त लोगोंके अनुकरणयोग्य आदर्शचरित्रोंके पूर्ण या अपूर्ण, अल्प या अधिक चित्र भी रहते हैं, और (४) वैसे चरित्र बनानेके उपाय भी विधि-निषेध आदिके द्वारा कुछर अभिव्यक्त किये जाते हैं । आर्यधर्मशास्त्रमें ऊपर लिखे चारों अंग पूर्णमात्रासे विद्यमान हैं । किन्तु इनमेंसे "आदर्शनिर्देश" अंग विशेषरूपसे सबल और भलीभांति परिस्फुट या अभिव्यक्त है ।

भारतवर्ष प्रथमतः एक ही वर्णके लोगोंकी निवासभूमि नहीं है । इसीसे यहां पर "अधिकारियोंकी विभिन्नता" रूप सरलतथ्यका स्वीकार सहजमें ही

हुआ है एवं उसके साथ ही "आदर्शनिर्देश" भी परिस्फुट हुआ है। यहाँके विभिन्नवर्णोंके सबलोगोंके पक्षमें एक ही उपायसे एक ही उच्चतम धर्मके आदर्शका ग्रहण संभव नहीं हो सक्ता। सभी देशोंके पक्षमें यह बात कुछ २ घटित होती है, क्योंकि सब देशोंमें विभिन्न श्रेणीके लोगोंमें बुद्धि और धर्मवृत्ति की स्वाभाविक विभिन्नता रहती है। किन्तु भारतवर्षके मनुष्योंमें जितनी आकार-प्रकारकी विभिन्नता है वैसी और कहीं नहीं है और भारतवर्षके शास्त्रकारगण जैसे विभिन्न श्रेणीके सभी लोगोंके प्रति सहानुभूतिसम्पन्न हैं वैसे और कहीं कभी नहीं हुए। इसविषयमें वेदवाक्यही (अथर्वसंहितामें) स्पष्ट २ ऐसा है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उत आर्य्ये॥

केवल ब्राह्मण और क्षत्रियका ही प्रिय (साधन) न करो। वैश्य और शूद्र आदि सभीका प्रिय (साधन) करो।

अपरापर धर्ममार्ग एक ही प्रकारकी शिक्षाका भार एक ही देशके सब लोगों के मत्थे मढ़कर ही नहीं निवृत्त हुए हैं उन्होंने पृथ्वीके सभी लोगों में एक ही व्यवस्था चलानेके लिये अत्यन्त प्रयास किया है और इस पर भी आश्चर्यकी बात यह है कि इस प्रकारके संकीर्ण और कठिन भावको ही सहानुभूतिका चिन्ह कह कर प्रसिद्ध किया जाता है।

पूर्ण सहानुभूतिकी प्रेरणासे आर्यशास्त्रने सबकी अपेक्षा उच्च अधिकारी ब्राह्मणोंके लिये पूर्णपवित्रताप्रद एक उत्कृष्ट आचारपद्धतिकी व्यवस्था की है एवं तदनन्तर उनकी अपेक्षा निकृष्ट अधिकारी अन्यान्य लोगोंको भी उनकी क्षमताके अनुसार ब्राह्मणोंका ही अनुसरण करनेका उपदेश दिया है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस (ब्रह्मावर्त्त या आर्य्यावर्त्त) देशमें उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वी (भारत-वर्ष भर) के सब लोग अपने २ चरित्रकी शिक्षा प्राप्त करें।

जो कोई आधुनिक दूषित संस्कारोंको हृदयसे हटाकर अपनी बुद्धिसे विचार करेंगे वे ही समझ सकेंगे कि ऐसा करनेका फल अति उत्कृष्ट ही हुआ है। एक दृष्टान्त देते हैं। भारतवर्षके अन्य सब प्रान्तोंकी अपेक्षा स्मार्त्तशिरोमणि रघुनन्दन पण्डितकी कृपासे बंगालमें स्मार्त्त आचार अधिकतर प्रबल होगया है।

इस प्रदेशकी ब्राह्मणभिन्न अन्य जातियोंके लोग भी बम्बई और मद्रासके लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक ब्राह्मणाचार का अनुकरण करनेवाले हैं एवं इसी कारण अधिकताके साथ शुचि, पवित्र, श्रीयुक्त और बुद्धिशाली बन कर, जैसे चारों आश्रमोंके और पौराणिक मन्त्रादिके वैसेही तन्त्रशास्त्रोक्त समस्त संस्कारोंके भी अधिकारी हो गये हैं।

वास्तवमें ऐसा होना ठीक ही है। सब प्रकार उत्तम गुणोंसे विभूषित एवं सब प्रकार दोषविवर्जित किसी कल्पित अथवा पूर्वसमयमें उत्पन्न पुरुषविशेष की प्रकृतिका उत्तमरूपसे वर्णन करनेमें यद्यपि लोगोंके सामने एक प्रकारका आदर्शचरित्रचित्र स्थापित किया जा सक्ता है, किन्तु ऐसा करनेसे ही उसके अनुकरणमें लोगों की प्रवृत्ति होना एक प्रकार से असम्भव ही है। साधारण जनोंकी दृष्टिमें ऐसे आदर्शपुरुष उनकी अनुकरणशक्तिसे एकान्त अतीत ही प्रतीत होते हैं। इसीकारण कुछ जीवन्त मनुष्योंकी प्रकृति में वैसे आदर्शपुरुषों की छाया प्रतिफलित करने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न किया जा सका तो अनुकरण-प्रवृत्ति के उद्रेक द्वारा शिक्षा देनेका कार्य्य पूर्णरूपसे फलदायक नहीं होता। भारतवर्षमें ब्राह्मणलोग ही वह जीवन्त आदर्श होंगे—यही शास्त्रका उद्देश्य है।

जीवितं यस्यधर्म्मार्थं धर्म्मोरत्यर्थमेव च।
अहोरात्रञ्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

जिसका जीवन एकमात्र धर्मके लिये है और एकमात्र धर्ममें ही जिसको आनन्द मिलता है एवं धर्मसाधनस्वरूप पुण्यके करनेमें ही जिसका दिन रात्रि सब समय बीतता है उसीको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यञ्चैव दमः शमः
अध्यात्मनित्यताज्ञानमेतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥

क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, शम, दम और अध्यात्मविषय की नित्यताका ज्ञान—ये ही सब ब्राह्मण के लक्षण हैं।

ब्राह्मणके आचारके सम्बन्धमें (शिवपुराणमें) यह भी विधि है कि ब्राह्मण सुख आदिकी प्रार्थना न करे।

ब्राह्मणो मुक्तिकामःस्याद्ब्रह्मज्ञानं सदाभ्यसेत्।

ब्राह्मणको चाहिये कि केवल मुक्तिकी कामना कर सदा ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करे।

इन सब लक्षणोंसे युक्त अनेकानेक ब्राह्मणोंको हमने अपनी आँखोंसे देखा है । अतएव ऐसे ब्राह्मणोंके होनेमें हमको कोई सन्देह नहीं है । जिन्हें सन्देह है वे यदि कुछ समयके लिये चित्तके सन्देहको दूर कर एवं "धनप्रार्थी होनेसे ही कोई इस देशमें नीच नहीं होता"—इस तथ्यका स्मरण कर शास्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंसे भक्तिपूर्वक वार्तालाप करें तो अवश्य ही सन्देहमुक्त होकर सुखी हो सक्ते हैं । किन्तु इस बातका अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्वकालमें क्षत्रिय एवं मुसल्मान राजालोगोंके समयमें उत्तम ब्राह्मणोंकी संख्या अधिक थी, इस समय स्वल्प हो गई है; उस पूर्वकालमें निकृष्ट (आचारहीन) ब्राह्मणोंकी संख्या स्वल्प थी, इससमय अधिक हो गई है ।

आर्यशास्त्रके इस अनन्यसाधारणभाव अर्थात् अतिप्रबलरूप आदर्श-निर्देश-निपुणताको सुस्पष्टरूपसे न समझनेके कारण जैसे इसको पक्षपात दोषसे दूषित कह कर निन्दा की जाती है, वैसे ही इसके विधि-निषेध वाक्योंके यथार्थ तात्पर्य के जाननेमें भी बहुत कुछ प्रमाद (भूल) होता है । दृष्टान्तके द्वारा इस अन्तिम बातको स्पष्ट करेंगे । (१) शास्त्रमें कहा गया कि शूद्र अपने लिये धनसञ्चय न कर द्विजातियों की सेवामें तत्पर रहे । इस विधिवाक्यका तात्पर्य यही है कि शूद्रजातिके आदर्शपुरुष द्विजातिसेवामें निरत रहें; ऐसा न करनेसे उनके कर्तव्यमें त्रुटि अवश्य होगी, पर वे दण्डनीय नहीं होंगे । इस ऊपर कही हुई शास्त्रोक्तिके समयमें भी शूद्रजातिके राजा, ज़मींदार आदिक धनाढ्य लोग थे—इसके अनेकानेक प्रमाण पाये जाते हैं । (२) शास्त्रमें कहा गया कि ब्राह्मणको क्रोध न करना चाहिये । इसका तात्पर्य्य यही है कि ब्राह्मण जातिके आदर्शपुरुष (जैसे वशिष्ठादि) क्रोधपरवश न हों । क्रोधपरवश होनेसे उनके ब्राह्मणाचारमें त्रुटि होगी किन्तु ब्राह्मणत्व ही न लुप्त हो जायगा । पूर्वसमयमें ब्राह्मणमण्डलीमें भी दुर्वासा, परशुराम आदि क्रोधी व्यक्ति थे । (३) शास्त्रने कहा—ब्राह्मण कोई नीचवृत्तिसे जीविका न करे । किन्तु पूर्वकालमें अनेकानेक ब्राह्मण नीचवृत्ति से अपना निर्वाह करते थे । मनुसंहिताके कई एक श्लोकोंसे यह जाना जाता है—

समुद्रयायी सोमस्य विक्रेता तैलिकश्च यः ।
धनुःशराणांकर्त्ता च द्यूतवृत्तिश्च यो भवेत् ॥
हस्त्यश्वोष्ट्रदमनः पक्षिणां यश्च पोषकः ।
श्वक्रीडी श्यानजीवीच गणानाञ्चैवयाजकः ॥

औरभ्रिको माहिषिकः शूद्रवृत्तिश्च यः पुनः ।
एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ॥

समुद्रयात्रा करनेवाला, सोम (एक प्रकार का मादक पदार्थ) बेंचनेवाला, तेली का काम करनेवाला, धनुष और वाण बनाने वाला, द्यूतवृत्ति, हाथी, घोड़ा और ऊँट आदि को वशमें लाने वाला, पक्षी पालनेवाला, कुत्तापालनेवाला, श्वानजीवी, गणयाजक अर्थात् पुरोहित, औरभ्रिक माहिषिक और शूद्रवृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति करनेवाला–ये ब्राह्मण द्विजाधम हैं, इनका आचार निन्दित होने के कारण ये पंक्तिमें बैठाने योग्य नहीं अर्थात् जातिच्युत हैं ।

इससे जाना जाता है कि आजकलके समयमें ही ब्राह्मणोंने नीचवृत्ति का अवलम्बन नहीं किया । पूर्वसमयमें भी उनमें उच्च, नीच वृत्ति और उच्च, नीच प्रवृत्ति थीं । आर्यशास्त्रके इस आदर्शनिर्देशकी रीति को न जान कर एवं इससमय देशमें उस 'आदर्श' में अनेकानेक त्रुटियोंको देख कर कोई २ समझते हैं कि अब लोग शास्त्रमतानुयायी होकर नहीं चलते; अन्य कोई २ समझते हैं कि आर्यशास्त्रकी सब विधियां और व्यवस्थाएँ बहुत ही शिथिल भावसे बँधी हैं, इनमें कहीं भी कुछ भी दृढ़बन्धन नहीं है ।

जो लोग इन सब बातों को कहते हैं वे आर्य्यशास्त्रकी विचारप्रणाली को भलीभांति सूक्ष्मदृष्टिसे नहीं देख सके हैं–इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । आर्यशास्त्र मनुष्यको उन्नतिसाधनके निमित्त समस्त उत्साह देकर एवं उसके सम्पूर्णमार्गोंको पुङ्खानुपुङ्खरूपसे दिखाकर यह कहता है कि जो व्यक्ति प्रदर्शितमार्गमें जितनी दूरतक जा सकेगा वह व्यक्ति उतना ही उत्कर्ष प्राप्त करेगा । भारतवर्षमें लोकाचार शास्त्राचारसे वैसा विभिन्न नहीं है, वास्तवमें शास्त्राचार ही लोकाचार का नियामक है । किसी प्रदेश वा किसी सम्प्रदायमें उस प्रदेश वा सम्प्रदाय के लोग शास्त्राचार के जिस अंशको जहां तक रखा कर चल सके हैं वही उनका लोकाचार कहा जाता है । इस लोकाचारमें कहीं २ विदेशी लोगोंके अनुकरण के कारण अथवा कहीं २ प्रादेशिक व्यवहारके कारण केवलमात्र कुछ २ विपरीतता देखी जाती है । किन्तु स्थूलतः एवं मूलतः सभी शास्त्राचार है । इसीसे कहागया है कि–"देशाचारोऽपि शास्त्रम्" । अर्थात् देशाचार भी शास्त्र है । शास्त्रमें इसका प्रमाण पाया जाता है–

केवलं वेदमाश्रित्य कः करोति विनिर्णयम् ।
तस्माँल्लौकिकोवेदाल्लोकाचारश्च कल्पयेत् ॥

केवल वेदका आश्रय लेकर कौन निर्णय कर सक्ता है ? लोकाचार वेदसे बलवान् है । लोकाचार का कौन त्याग कर सक्ता है ?

आर्यशास्त्र आदर्शनिर्देशसे ही लोगों को शिक्षा देता है । किसीके अविकल आदर्शानुरूप न होनेसे ही उसका प्रत्याख्यान नहीं करता । इस तथ्य को जान लेने से बहुत कुछ भ्रम और प्रमाद मिट जाता है एवं लोग बहुत कुछ आश्वस्त और शंकाशून्य होकर गन्तव्यमार्गमें स्थिरलक्ष्य होकर चल सक्ते हैं । यद्यपि अनेकानेक विषयोंमें त्रुटि हुई है तथापि एकबारगी शास्त्रके क्रोड़ से भ्रष्ट नहीं हुए हैं-हृदयमें ऐसी प्रतीति उपजनेसे साहस की स्फूर्ति होती है एवं शास्त्र को, सहस्र २ अपराधों को क्षमा करनेवाले कृपालु पितासे भी बढ़कर करुणामयरूपमें पाकर संसारसागर का बहुत कुछ भय जाता रहता है । जो कोई आर्यशास्त्र को इस प्रकार दयामयभावसे प्राप्त होकर उसपर सम्पूर्ण विश्वास और भक्ति करेंगे वे दिन २ शास्त्र-प्रतिपादित विधियोंके प्रतिपालनमें प्रयत्नशील होंगे । वे दिव्यदृष्टिसे देख पावेंगे कि उन सब विधियोंके पालनके फलसे अशेषमंगलनिलय होरहे हैं । उनका शरीर क्रमशः लघु (हल्का) और पटु होता जायगा एवं मनमें अशान्तिमय तीक्ष्णभावके बदले शान्तिमय मधुरभाव उपस्थित होगा । वे धीरे २ धीर, सहनशील और विचार कर कार्य्य करनेवाले होते जायँगे । उनके परिवारमें प्रत्येकव्यक्तिको विदित होगा कि वे स्वयं किसी न किसी साक्षात् धर्मकार्यमें लगे हुए हैं एवं यह जान कर हर एक सावधान, सतर्क एवं कर्तव्य-साधनमें तत्पर होगा । प्रतिवेशी लोगोंके प्रति उनकी दया और अनुकूलता बढ़ेगी, स्वजातीय लोगों की मुखापेक्षिता सतेज होगी एवं समस्त समाजके प्रति सहानुभूति बढ़ने से उनके धर्मकी वृद्धि होगी ।

शास्त्राचारके पालनसे ये सब शुभमय फल फलते हैं—यह बात विवेचनापूर्वक परीक्षा करके देखनेसे ही प्रत्यक्ष होसक्ती है । किन्तु फल-प्राप्तिके लिये अधीर होकर अधिक शीघ्रता करनेसे फललाभमें ही व्याघात होनेकी संभावना है । वैसी अधीरतामें रजोगुणका ऐसा उत्कट प्रादुर्भाव होता है कि उसके कारण सात्त्विक फलमें विकार उत्पन्न हो जाता है । विशेषकर आचारके लिये अभ्यासकी एकान्त आवश्यकता है, सुतराम् व्यस्तभावसे फलकी खोज करनेसे यथार्थ अभ्यासका अवसर नहीं होता ।

किन्तु निजशरीर आदि में परीक्षा द्वारा शास्त्राचारके गुणोंको जाननेके लिये यद्यपि किसी २ के हृदयमें अभिलाषा हो सक्ती है तथापि उन गुणोंको विचार

करके समझनेसे ही आधुनिक नव्यसम्प्रदायके अधिकांश लोगोंकी आचारकी ओर कुछ२ प्रवृत्ति होनेकी संभावना है। आधुनिक नव्यसम्प्रदायमें यह संस्कार बद्धमूल हो गया है कि आर्यलोगोंका शास्त्राचार सम्पूर्ण अनभिज्ञ है एवं उस आचारसे एकान्त रहित यूरोपियन् जातियाँ ही इस समय आर्य्याचारसम्पन्न लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्टतर हैं। और वे स्वयं अधिकांश शास्त्राचारविहीन होकर समझते हैं कि उनकी वैसी कोई क्षति या अवनति नहीं हुई अतएव उनके मत में शास्त्राचार वैसी कोई अति प्रयोजनीय वस्तु नहीं है।

इन दोनों बातोंका उत्तर देना आवश्यक है। पहली बात यह है कि आर्याचारविहीन कोई २ जाति आर्याचारसम्पन्न लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट है; पहले तो हम इस बातको यथार्थ ही नहीं मानते। हमारे विचारमें सब ओर देख कर विचार करनेसे पृथ्वीकी किसी भी जातिको भारतवासी आर्यलोगोंकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं कहा जा सक्ता। हमारे ज्ञानमें धर्म एक काल्पनिक कृत्रिम पदार्थ नहीं है। महाभारतमें लिखा है कि दुष्टबुद्धि कौरवगण साधुस्वभाव पाण्डवोंको अनेक पीड़ा पहुंचा कर अन्तको आपही विनष्ट होगये एवं पाण्डवों को राज्य प्राप्त हुआ। हमारी समझमें यदि ऐसा न लिखा जाकर महाभारत में केवल इतना ही लिखा होता कि पाण्डवलोग यावज्जीवन दुःख भोगकर अन्तको अज्ञातवास करते करते ही मर गये तो भी युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंकी साधुतामें कुछ त्रुटि न होती और दुर्योधन आदिकी दुष्टतामें कुछ कमी न होती। सब ओर देखनेसे अत्यन्त सुस्पष्टरूपसे प्रतीत होगा कि भारतवासी लोग पृथ्वीमें पाण्डवतुल्य हैं। ये लोग कष्ट पा रहे हैं, कदाचित् यों ही मर भी जायँगे तथापि साधु हैं। अतएव केवल इस लोकके फलाफलको देख कर ही कौन उच्च है, कौन नीच है, कौन साधु है, कौन असाधु है, कौन अच्छा है, कौन बुरा है, इसका विचार करना ठीक नहीं है। भारतवासी आर्य लोगोंमें दया, सहनशीलता पवित्रता, परार्थपरता आदि सत् गुण पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंके लोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक हैं एवं इन सब सत् गुणोंकी अधिकता आर्यशास्त्राचारका ही फल है। इसी कारण हमारा शास्त्राचार अति उत्कृष्ट वस्तु है एवं इसे छोड़ देनेसे हमारा अधःपतन अवश्यम्भावी है। इस समय जितना ही विदेशीय शिक्षा के प्रभावसे शास्त्राचारका परित्याग होता जाता है उतनाही उत्कर्षका लाघव और अपकर्षकी वृद्धि होती है।

द्वितीय बात यह है कि शास्त्राचारसे भ्रष्ट होकर कोई २ लोग वैसा कुछ अपना अपकर्ष नहीं मानते। जैसे उत्कर्ष भी एकदम नहीं हो सक्ता वैसे ही अपकर्ष

भी एकदम नहीं हो सका। आर्याचारपवित्र पूर्वपुरुषोंके गुणसे, आर्यसमाजमें अवस्थित रहनेसे, आर्यग्रन्थादिप्रदत्त उच्चतम आदर्शके प्रभावसे आर्याचारके त्यागके अनेक दोष दूर होते रहते हैं। अतएव अपकर्षकी पूर्णमात्रा प्रथमपुरुष (पहली पीढ़ी) में ही नहीं दिखाई देती।

ये सब बातें नव्यदलमें भी किसी २ को ठीक जँच सकती हैं। किन्तु उनमें से अधिकांश लोग ऐसे निकलेंगे जिनके मन को इन बातोंसे भी भलीभाँति बोध न होगा। वे कहेंगे कि भारतवासियोंमें क्या कोई त्रुटि ही नहीं है एवं जो कुछ त्रुटि है वह क्या शास्त्राचारके अनुशीलनसे ही मार्जित हो सकती है।

इसके उत्तरमें हम कहते हैं कि भारतवासियोंमें त्रुटि है किन्तु वह आचारसंभूत नहीं है। इस समय कहना इतना ही है कि भारतवासियों के शास्त्राचार को न मान कर चलनेसे उनकी अपने समाज पर सहानुभूति और भी न्यून होगी एवं ऐसा होनेसे उनके धर्मभावके मूलमें कुठाराघात होगा। धर्म-भावके विनष्ट होने पर फिर कभी किसी त्रुटि का सुधार न होगा—क्रमशः पूर्ण नाश होजायगा, मुक्ति की कुछ भी संभावना नहीं रहेगी।

इसी कारण आदर्शनिर्देशके द्वारा सदाचारशिक्षा का सरल उपाय निकालनेवाला और पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंकी अपेक्षा उत्कृष्टतर आदर्शको आगे रखनेवाला एवं भारतवासियोंके लिये निपट उपयोगी तथा स्वयं सामाजिक सहानुभूति की रक्षा का एकमात्र उपाय बतानेवाला आर्यशास्त्र हम सब लोगों का प्रेम और भक्तिके साथ माननीय, भजनीय और पूजनीय है।

नैमित्तिकाचार प्रकरण ।

———:o:———

प्रथम अध्याय ।

———o———

प्रकरणके विषयका निरूपण ।

निमित्त शब्द का अर्थ है हेतु अथवा कारण । किसी हेतुके अवलम्बन या उपलक्षसे जिन सब कर्मोंके करने की आज्ञा शास्त्रमें दी गई है वे नैमित्तिक आचारके अन्तर्गत हैं; अर्थात् नित्यप्रक्रिके कर्मोंके अतिरिक्त जो सब शास्त्रोक्त कर्म विशेष २ समय पर करने चाहिये उनको नैमित्तिक कर्म कहते हैं ।

नैमित्तिक कर्मोंमें कुछ एक का नाम संस्कार है, कुछ एक का नाम पूजा है, कुछ एक का नाम व्रत है, कुछ एक का नाम श्राद्ध और कुछ एक का नाम साधन है । संस्कार कार्य स्मृतिशास्त्रोक्त हैं एवं इनमें वैदिक मंत्र आदिका प्रयोग होता है । पूजाएँ भी अधिकांश स्मृतिशास्त्रोक्त हैं एवं पौराणिक मन्त्रोंके द्वारा निष्पन्न होती हैं । प्रचलित व्रत भी स्मृति–पुराण–प्रोक्त हैं । साधनकार्य सब प्राय: तन्त्रशास्त्रोक्त हैं । तन्त्रशास्त्रोक्त कई एक पूजाएँ भी इसदेशमें प्रचलित हैं।

पूर्वकालमें वेदमन्त्रादिके द्वारा जो नाना प्रकारके याग यज्ञ किये जाते थे उनमें से अनेकों ही इससमय साक्षात्सम्बन्धमें विलुप्त होगये हैं । ऐसे विलुप्त होगये हैं कि विशेष यत्न करने पर भी उनके पूर्वरूपमें फिर प्रचलित होने की कोई संभावना नहीं होती । वास्तवमें वे इतने असामयिक गिने गये हैं कि उनके पुनरुद्धार की चेष्टा अवैधरूपसे निर्दिष्ट हुई है । जैसे महाभारतमें उक्त राजा जनमेजयकृत अश्वमेधयज्ञ उन्ही (जनमेजय) के लिये दोषावह हुआ था वैसे ही बंगदेशीय राजा कृष्णचन्द्रकृत वाजपेय यज्ञ एवं उत्तर पश्चिमाञ्चलके पण्डित गंगाधर कृत आथर्वणिक अभिचार भी करनेवालोंके लिये ही हानिकारी हुआ था—ऐसा प्रसिद्ध है। पूनाप्रदेशमें हग् साहब वैदिक सोमयाग का अनुष्ठान करनेमें जैसे यत्परोनास्ति विडम्बित हुए थे सो उल्लेखयोग्यही नहीं है ।

जो हो, प्राचीन वैदिक याग-यज्ञोंके पुनरुद्धार की कोई संभावनाही नहीं है । वेदविद्या ही बहुत कुछ न्यून हो गई है इस समय भारतवर्षके जिस २ प्रदेश में वेद का पठन-पाठन होता सुना जाता है उन सब स्थानोंमें भी साधारणत: वैदिक मंत्रादिके अर्थ जानने और अनुष्ठानप्रक्रियाके अभ्यास में वैसा यत्न नहीं

होता—स्वरसंयोगादिपूर्वक वैदिक संहिता आदि का कोई २ अंश केवल गाया या पढ़ा जाता है। वर्त्तमान समयमें इस देशमें वेद का प्रचार कुछ बढ़ अवश्य गया है । श्रीयुक्त सत्यव्रत सामश्रमी महाशयके एवं श्रीयुक्त रमेशचन्द्रदत्तजीके यत्नसे वंगभाषामें भी वेद की व्याख्या का प्रचार हुआ है । किन्तु इन सब चेष्टाओंके फलसे वेदविद्या का विस्तार होने पर भी वैदिक क्रियाकलाप का पुनरुद्धार न होना स्वतःसिद्ध है ।

द्विजातिजनोंमें साग्निकता की एकान्त स्वल्पता अथवा अभावसे ही वैदिक क्रियाकाण्ड का अधिकताके साथ लोप हो जाना भलीभाँति विदित होता है । आहिताग्निक लोगोंका क्रियाकलाप अत्यन्तविस्तृत और बहुमुख था । अग्नि की रक्षा ही तो एक अतिप्रधान अनुष्ठान है । सभी कार्योंके आरम्भमें ही अग्निपूजा का प्रयोजन होता है । अग्निही सब देवतोंके अग्रणी हैं । अग्निदेवही सब देवतों का मुख हैं ।' साग्निकताका लोप होनेसे अनेकांशमें अनुकल्प को स्थान मिला है । किन्तु अनुकल्पके समधिक प्रवेश से मुख्य व्यापार की जो बहुतकुछ अंग हानि और त्रुटि होती है उसका स्वीकार करके ही महाकवि भवभूति की इस उक्ति का तात्पर्य समझा जा सक्ता है:—

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वात्स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
सङ्कटायाहिताग्नीनाम्प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥

अर्थात् आहिताग्निक लोगोंके लिये गृहस्थधर्म बड़ाही सङ्कटावह है, क्योंकि अनुष्ठान की नित्यताके कारण कुछ भी स्वतन्त्रताके अवलम्बनसे ही प्रत्यवाय उत्पन्न होकर अपकर्षता—साधन करता है ।

अतएव साग्निक लोगोंके लिये अनुष्ठेयकर्म नित्य थे एवं नैमित्तिक क्रियाओं की विशेष अधिकता ही थी । इसके अतिरिक्त जो सब वैदिक क्रियाएँ इस समय भी प्रचलित हैं उनमें भी देखा जाता है कि अनेकानेक स्थलोंमें साग्निक लोगोंके लिये साधारण अनुष्ठान एवं मन्त्रोच्चारणके अतिरिक्त अन्य कई एक कार्य कर्तव्य और अन्य कई एक मन्त्र पाठ्य कह कर निर्दिष्ट हुए हैं। सुतराम् साग्निकता में क्रिया की अधिकता एवं निरग्निकता में क्रिया की न्यूनता सहज ही उपलब्ध होती है ।

साग्निकता की न्यूनतासे जैसे वैदिककर्मकाण्ड की खर्वता प्रतीत होती है वैसे वेद की शाखाओं का लोप देखकर वह प्रतीति और भी दृढ़ हो उठती है । चार वेदों की शाखाओं की समग्र संख्या ११३० कही गई है । उनमें साम-

वेदकी शाखाएँ १००० हैं, किन्तु उन हज़ारमें केवल तीन शाखाओंके * और इस समय नहीं वर्तमान हैं । यजुर्वेदकी १०० शाखाएँ हैं, उनमें केवल ५ शाखाएँ वर्तमान हैं—ऐसा सुना जाता है । ऋग्वेदकी २१ शाखाएं हैं, उनमें केवल आठ वर्तमान हैं एवं अथर्ववेदकी नव शाखाएँ हैं और उनमें इस समय एक भी नहीं विद्यमान है । अतएव इस समय ११३० वेदशाखाओंमें केवल २६ वर्तमान हैं ! विभिन्न २ वैदिक शाखाओंकी कर्तव्य क्रियाएँ कुछ २ विभिन्न थीं । सुतराम् इतनी शाखाओंका लोप होनेसे अर्थात् परस्पर अन्तर्निवेशसे अनेकों क्रियाएँ लुप्त हो गई हैं—ऐसा सिद्धान्त किया जा सक्ता है (कौलक चरण-व्यूह ग्रन्थ देखो)। किन्तु वेदविद्याकी न्यूनता एवं साग्निकताकी खर्वता और वेदशाखाओंका विलोप होनेपर भी आर्यकृत्यका सारस्वरूप संस्कारकार्य्य जैसे प्राचीनकालमें अनुष्ठित होते थे वैसे ही इससमय भी किये जाते हैं एवं उनका अनुष्ठान सम्पूर्ण भारतवर्षमें व्याप्त है । वास्तवमें शास्त्रके अनेक स्थानोंमें, अनेक प्रसंगोंमें जिन सब वैदिक अनुष्ठानोंका उल्लेख है, इस प्रबन्धमें उन सब का कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सक्ता । किन्तु वैदिक कार्योंमेंसे प्रधान २ संस्कार कार्य ही इस प्रकरणमें कहे जायँगे ।

वेदविद्या एवं वैदिककर्मकाण्ड जितना लुप्त हो गया है उतना स्मृति-शास्त्रका लोप नहीं हुआ है । बीस मूल स्मृतिग्रंथ सभी पाये जाते हैं । उनके अतिरिक्त श्रुतियों और स्मृतियोंका परस्पर सामंजस्य करनेवाले कईएक सूत्रग्रंथ भी वर्तमान हैं और सब आर्यकर्मों का सूक्ष्मानुसूक्ष्मरूपसे उपदेश देनेके उपयोगी विभिन्नवेदी ब्राह्मणोंके व्यवहारमें आनेवाले विभिन्न २ पद्धतिग्रंथ भी हैं ।

नव्यसम्प्रदायमें कोई २ समझते हैं कि वैदिकशास्त्र समूहका लोप हो जाने पर किसी स्वतन्त्र भित्ति पर स्मृति आदि शास्त्रोंकी प्रतिष्ठा हुई है । किन्तु ऐसा समझना भारी भ्रम है । वेदमूलसे ही स्मृतियों की उत्पत्ति है । श्रुतिको छोड़कर स्मृति नहीं है एवं रह भी नहीं सक्ती है । कभी किसी देशमें किसी कालमें एक प्रकार की धर्मक्रियाका पूर्णरूपसे विलोप होकर किसी नवीनप्रणालीका आविर्भाव अभीतक नहीं हुआ । यहाँतक कि जहाँ एक बारगी लोगोंका धर्म परिवर्तित होगया है उन सबदेशोंमें भी ऐसा नहीं हुआ, खीष्ट-

* (१) कौथुमी–गुजरात और बंगालमें ।
(२) जैमिनि–कर्णाटकमें (३) नारायणी–महाराष्ट्रमें ।

धर्मावलम्बी यूरोपियनगणकर्तृक परिगृहीत अनेकानेक पर्वों की उत्पत्ति प्राचीन रोमवासियोंके पर्वादिके अनुसरणसे हुई है। अरबमें मुसल्मानोंने केवल काबे की मसजिदके गौरवकी रक्षा करके ही अरबके प्राचीन तीर्थ आदिके माहात्म्य का स्वीकार किया है-ऐसा नहीं है, इस समयके रमज़ान आदि व्रतोपवास महम्मदकी उत्पत्तिके बहुत पहलेसे चले आते हैं। बौद्धधर्म भारतवर्षसे ब्रह्मा और चीनमें चला गया है सही, किन्तु वह देशत्यागी होने पर भी इस देशके पर्वोंको पूर्णरूपसे नहीं छोड़ सका। जब धर्मसम्बन्धी क्रियाकाण्डकी आयुष्मत्ता सर्वत्र ही इतनी दृढ़ है तब क्या केवल भारतवर्षमें ही उसका इतना क्षीण जीवन हुआ था कि यहाँ वैदिक क्रियाकलापके एकबारगी उठ जाने पर नवीन प्रकारकी स्मार्त और पौराणिक सब क्रियाओंका अनुष्ठान प्रचलित हो गया? नहीं, ऐसा नहीं है। नव्यसम्प्रदायके अन्तर्निविष्ट वैदिक भाषाकारीवर्गका हठवाद ग्राह्यकी वस्तु नहीं है। स्मार्त क्रियाओंकी उत्पत्ति वैदिक क्रियाओंसे ही हुई है, वे मूल वेदवृक्ष के ही मूलांकुर स्वरूप हैं। स्मृतिकी प्रामाणिकता भट्टकारिकामें उक्त है—

वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात्तत्परिग्रहदार्ढ्यतः।
संभाव्यवेदमूलत्वात् स्मृतीनांवेदमूलता ॥

वेदज्ञ लोगोंके स्मरण करने और वेदोक्त कार्य्योंकी दृढ़ताको सिद्ध करने एवं वेदमूलताकी संभावना जान पड़नेके कारण स्मृतिशास्त्रका वेदमूलक होना प्रमाणित होता है।

पुराणशास्त्र अधिकांश जीवित हैं। अष्टादश पुराणोंमें सब मिलाकर चार लाख श्लोक कहे जाते हैं। यद्यपि वे सब अबतक नहीं पाये गये तथापि उनमेंसे अधिकांश श्लोक प्राप्त हो गये हैं। स्मार्तक्रियाकलापके सम्बन्धमें जो कहागया है उसीसे विदित होगा कि पुराणोक्त क्रियाकलाप भी वेदमूलसे बहि-र्भूत नहीं है। पुराणोंकी उत्पत्ति या सृष्टिके सम्बन्धमें जो किम्वदन्ती प्रचलित है उससे भी यही जान पड़ेगा। विष्णुपुराणसे विदित होता है कि व्यासदेवके अष्टादश नाम हैं अर्थात् अठारह ऋषि "व्यास" उपाधिसे प्रसिद्ध हैं। इनसबने ही वेदार्थप्रकाशनके लिये पुराणोंकी रचना की है। अतएव पौराणिक क्रिया-कलापको भी वेदमूलक कहना पड़ता है। मत्स्यपुराणका यह वचन पुराणके प्रमाणस्वरूपमें ग्रहण किया जा सकता है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥

सब शास्त्रोंके आदिमें ब्रह्माजीने पुराणशास्त्रका स्मरण किया। यह वेदमय पवित्र एवं शतकोटिविस्तृत है।

वेद, स्मृति एवं पुराणादि शास्त्रोंका परस्पर विभेद एवं अभेद किसप्रकार है—सो कुछ मन लगाकर चिन्तनीय है। वेदके सम्बन्धमें उक्त हुआ है कि विराट् शरीरका * निश्वासस्वरूप जो सत्यसमूह है उसे विभिन्न ऋषियोंने अग्निमें जलमें आकाशमें वायुमें प्राणियोंमें एवं ऐतिहासिक व्यापारसमूह अर्थात् प्राकृतिकघटना एवं लोकव्यवहारमें मन्त्ररूपसे देखा था। इन्हीं मन्त्रोंकी समष्टि वेद का सबसे मुख्य भाग है। किस समयमें या किसके द्वारा इस मन्त्रसमूहका संग्रह किया गया—इसका कोई विवरण नहीं है। इतना ही कहा गया है कि समग्र मन्त्रों और उनके प्रयोगोंका सम्यक् अभ्यास एक एक ब्राह्मणके लिये असाध्य हुआ देखकर भगवान् व्यासदेवने वेदमन्त्रसमष्टिके चार विभाग कर शिष्योंको उनकी शिक्षा दी। तदनन्तर व्यासजीके शिष्योंने अपने २ शिष्योंको अपने २ वेदविभागको अनेक शाखाएं करके उनकी शिक्षा दी। अतएव चारों वेद यद्यपि विभिन्न शाखाओंमें विभक्त होकर परस्पर अवान्तरभेदविशिष्ट हो गये हैं तथापि मूलतः एक ही एवं अभिन्न है।

स्मृतियोंका एकताके सम्बन्धमें अविकल इसी प्रकारका सिद्धान्त होता है। स्मृतिसंहिताएँ यद्यपि भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंमें एवं विभिन्न सम्प्रदायोंमें एवं भिन्न २ समयमें रचित हुई हैं तथापि वे सभी श्रुतिमूलक होनेके कारण एक ही प्रणालीसे संगठित एवं एक ही लक्ष्यके उद्देशमें परिचालित हैं। इसके अतिरिक्त वे सभी एकमात्र मनुसंहिताका सर्वप्राधान्य स्वीकृत करती हैं, इसलिये कार्यतः उनका मत कभी विभिन्न नहीं हो सक्ता।

मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।

मनुशास्त्रके विपरीत अर्थका बोध करानेवाली स्मृति अप्रशस्त अर्थात् अप्रामाणिक है। पुराणोंमें जो आख्यायिकाभेद, मतभेद अथवा स्थूलदृष्टिसे

---

* अस्यमहतोभूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः।
वेदके इस स्वतःप्रमाणरूप भावको समझ लेने पर "वाह्यविज्ञान" आदिके साथ वेद का विरोध हो ही नहीं सक्ता—यह बात स्वयंसिद्ध होजाती है। इसीलिये दार्शनिक पंडितोंमेंसे कोई २ ईश्वर पुरुषका स्वीकार न करने पर भी वेदकी प्रामाणिकताका स्वीकार कर सके हैं।

मतभेद भी देखा जाता है सो उसपर विवेचनापूर्वक विचार करनेसे वे 'विरोध' वैसे सांघातिक या हानिकारी नहीं जान पड़ेंगे । पुराणोंके आख्यान, उपाख्यान एवं कल्पशुद्धि नामक तीन उपादान हैं । उनमें उपाख्यानभाग तो लोकपरम्परासे सुना हुआ विवरणमात्र है, सुतराम् वह प्रदेशभेद, कालभेद एवं व्यक्तिभेदसे अवश्य ही विभिन्न होगा । उसके विभिन्न न होनेसे ही उसपर कुछ सन्देह किया जा सक्ता । अतएव पुराण अनेक होने पर भी एक हैं ।

इसीप्रकार अनेकत्त्वमें एकत्व देखना ही आर्यजाति का शास्त्रसिद्ध और स्वभावसिद्ध धर्म है एवं उसीको अतिविशद करके दिखलानेके लिये ही कहा गया है कि सभी ऋषि वैदिकमन्त्रोंके देखनेवाले हैं, स्थूलतः वेही स्मृतिसंहिताओंके बनानेवाले हैं एवं प्रायः वेही व्यासनामसे पुराणरचयिता कहकर प्रसिद्ध हैं । इस कथनका प्रकृत तात्पर्य यह है कि वैदिक, स्मार्त्त और पौराणिक विधि—व्यवस्था को परस्पर अनुस्यूत एवं मूलतः अभिन्न ही जानना और समझना चाहिये। क्रियाकाण्ड एवं धर्मसाधनके सभी उपदेश इसी अभेद—ज्ञान पर निर्भर कर दिये गये हैं ।

श्रुतिस्मृतिसदाचारविहितं कर्म्म केवलम् ।
सेवितव्यस्त्वतुर्व्वर्णैर्विद्वद्भिः केशवं सदा ॥

ईश्वर सेवापरायण चारों वर्णके सभी व्यक्तियोंको श्रुतिस्मृति—सदाचार विहितकर्म्म ही करना चाहिये ।

यही शास्त्रकी यथार्थ आज्ञा है । इसी आज्ञाके अनुगामी होकर चलनेसे किसी प्रकारका प्रत्यवाय नहीं हो सक्ता । शास्त्रके मध्यमें परस्परविरुद्ध मतवाद विद्यमान है—यह समझकर जो लोग शास्त्रोक्तकर्म पर श्रद्धाविहीन होते हैं उन हठ करनेवालोंके आशुप्रतिरोधके लिये भी उपाय उद्भावित है । मनुजीने कह दिया है कि विद्वान्, सदाचारी, एवं रागद्वेषरहित महात्माजनोंके स्थानमें सुन कर एवं उनका आचार देख कर आचरण करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद्में उक्त हुआ है कि समीपवर्त्ती सत् ब्राह्मणोंके व्यवहारको देखकर सन्देह निवृत्त कर लेना चाहिये * । महाभारतमें भगवान् वेदव्यास और शास्त्रादिमें परस्पर मतभेद देखा जाता है,—युधिष्ठिरके मुखसे जैसे इसका स्वीकार करके ही साधा-

* अथ यदि ते धर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलुक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः ।

इसलिये लोगोंके लिये धर्ममीमांसा का चरम उपाय जो महात्माजनोंके मार्ग का अनुसरण है उसे "महाजनो येनगतः स पन्थाः"—इस चिरसुप्रसिद्ध वाक्य द्वारा सुव्यक्त कर दिया है। अतएव निचोड़ सिद्धान्तवाक्य यही है कि यद्यपि शास्त्रमें कहीं २ स्थूलदृष्टिसे मतभेद एवं विवरणभेद लक्षित होता है तथापि विद्या एवं साधुतासम्पन्न महान् जन मीमांसापूर्वक शास्त्रके यथार्थ सूक्ष्म तात्पर्य्य को समझकर धर्मका यथार्थ पथ निकाल कर चल सक्ते हैं।

किन्तु वेद, स्मृति एवं पुराण सब एकवाक्य होकर इस तथ्यको अभिव्यक्त करते हैं तथापि नव्यसम्प्रदायकी बुद्धि ऐसी विपथगामिनी होती जाती है कि वे इन सब बातों पर कर्णपात नहीं करेंगे विचारमें अपनी इच्छाके अनुयायी हो कर चलें गे किसीका परामर्श न लें गे एवं किसी का शासन न मानेंगे। वे सामान्य विषयसम्पत्तिकी रक्षाके लिये बहुव्यय स्वीकार कर व्यवहारजीवी पण्डितोंके पाससे व्यवस्था ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होंगे, एवं शरीररक्षाके लिये डाक्टरको बुला कर डाक्टरीऔषधसेवनरूप नरकयन्त्रणाका भोग करेंगे, किन्तु विषयसम्पत्तिसे सहस्रगुण महामूल्य एवं नश्वर पुरुषशरीरसे भी सहस्रगुण प्रियतर जो 'धर्म' पदार्थ है उसमें यथेच्छाचार करेंगे। अपनी और चिकित्साकी अपेक्षा धर्मपदार्थ कितना उच्चतम और कठिनतम है उसकी इयत्ता नहीं है। धर्मकी कठिनताके सम्बन्धमें उपनिषद् कहती है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

विद्वान्लोग उस (धर्म) मार्गको सुतीक्ष्ण क्षुरधारसदृश दुर्गम और दुरत्यय कहते हैं।

किन्तु नव्यसम्प्रदायके मतसे धर्मतत्त्वका आविष्कार अति अनायाससाध्य सहज व्यापार हो गया है!

यहांपर एक प्रश्न हो सक्ता है कि यदि धर्ममार्गका निश्चय करना इतना कठिन है, तो धर्मविषयमें ही अङ्गरेज़ी पढ़े लिखे लोग इतने स्वेच्छाचारी क्यों होना चाहते हैं? इस प्रश्नका सम्पूर्ण प्रत्युत्तर देनेमें जिन अनेक विषयों को लेकर विचार करना होता है उनका उल्लेख इस स्थलके लिये अप्रासंगिक हो सक्ता है; इसीसे केवल अङ्गरेज़ी पढ़े नव्यसम्प्रदायके लोग जिस भ्रममें पतित हैं उसीका आंशिक उल्लेख करेंगे। अङ्गरेज़ी शिक्षासे धर्मकी प्रकृति सुपरिस्फुट नहीं होती। यूरोपियन् साहित्यके मूलमें जो कुछ धर्मभाव है वह सब ही प्रायः कुछ एक खीष्ट की उक्तियोंसे निकला है। उन उक्तियों में एक

यह है कि ईश्वर अनन्त कालके लिये पापियोंको नरकमें भेजता है एवं पुण्यात्मा जनोंको स्वर्गमें भेजता है। इस उक्तिके युक्तिसिद्ध होनेके विचारका अवसर नहीं होता। यह उक्ति साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अङ्गरेज़ी पुस्तकें पढ़नेके साथ साथ क्रमशः मनमें प्रवेश पाकर फिर अन्तःसलिलवाहिनी नदीके समान एक विचारप्रणाली का उद्भावन करती है। वह विचार इस प्रकारका है–ईश्वरने अपनी इच्छासे हमारी सृष्टि की है, हमको अपनी सृष्टि की चाह न थी, अथच वह हमको एक प्रकारके कार्य्यके कारण अनन्त कालके लिये नरकमें डाल देंगे और दूसरे प्रकारके कार्य्यके कारण अनन्त कालके लिये स्वर्गको भेज देंगे। ऐसे स्थल पर, कैसे कार्यके लिये नरकका और कैसे कार्यके लिये स्वर्गका विधान होगा–सो खूब स्पष्ट करके ही कहदेना उचित है। ईश्वरने अवश्य ही वही उचित कार्य किया है। अतएव हम अवश्य ही अत्यन्त अनायासमें विना किसीके उपदेशके पाप और पुण्यका भेद लखनेमें समर्थ हैं। क्या पाप है एवं क्या पुण्य है–यह जाननेके लिये किसीकी उपासना या किसी यत्न का प्रयोजन नहीं होता।

इस प्रकारके भ्रमपूर्ण विचारने अङ्गरेज़ी पढ़े लोगोंके हृदयमें स्थानलाभ कर उनको धर्मके विचारमें निपट निरंकुश बना डाला है। वे सोचते हैं कि धर्मका विचार दुरूह होनेसे काम कैसे चलेगा? यही महान् अतथ्य उनके हृदयमें तथ्यरूपसे विराजमान हो गया है। इसीलिये वे धर्माधर्मविचारकी कठिनताका अनुभव करना नहीं चाहते एवं शिक्षकस्वरूप जो धर्मका सुमहत् भाव है उसको भी नहीं समझ सक्ते।

अङ्गरेज़ीमें कृतविद्य अतिशिष्ट युवालोगोंकी भी अवस्था कैसी है सो निम्नलिखित यथार्थ वृत्तान्तसे कुछ २ समझमें आ जायगा। एक साधुस्वभाव कृतविद्य युवापुरुष कभी कभी अविमृष्यकारिता (बिना विचारे काम कर डालना) और कठोर व्यवहारके दोषसे दूषित हो जाते थे। ऐसा करनेके दोषोंको पुङ्खानुपुङ्ख रूपसे दिखलाने पर उन्होंने अत्यन्त सरलभावसे कहा कि–"मैं अच्छे वंशमें उत्पन्न हूं, मुझे उच्चशिक्षा मिली है, मैं सदाशय व्यक्ति हूं–अपने विषयमें मेरी ऐसी ही धारणा है, सुतराम् मेरा किया कार्य सत्के सिवाय असत् हो सक्ता है–सो कभी मैं सोचता भी न था, जो मनमें आता था, वही तुरन्त कर डालता था। इस समय मेरी समझमें आया कि केवल संस्कार अथवा भावमात्रके वेगसे चालित होनेसे पग २ पर पदस्खलन होता है। प्रकृत धर्ममार्गमें जाना हो तो

बहुत सोच विचार कर चलना चाहिये एवं गुरु या गुरुतुल्य शास्त्रका हाथ पकड़ कर ही चलना चाहिये" । यदि कभी अँगरेज़ीशिक्षित सम्प्रदायके मनमें साधारणतः यह भाव उत्पन्न हो तो वे प्रकृत तथ्य को समझ सकेंगे एवं शास्त्रादिके क्रियाकलापका समादर और गौरव करना भी सीखेंगे ।

किन्तु क्रियाकाण्डके सम्बन्धमें केवल नव्यसम्प्रदायके ही मनमें गोलमाल नहीं उपस्थित हुआ है । प्राचीनसम्प्रदायमें भी शास्त्रके सम्बन्धमें अभेदबुद्धि अखण्ड बनी हुई है—यह भी नहीं कहा जा सक्ता । साम्प्रदायिक भेदभाव एवं स्वार्थानुसरणप्रवणता इससमय बहुत ही प्रबल हो उठे हैं । अमुक स्मृति कुछ भी नहो है, अमुक पुराण कुछ भी नहीं है, अमुकदेवताकी उपासनासे मुक्ति नहीं मिलती, अमुक व्रतका फल ऐहलौकिक ही है—इस प्रकारकी बातें बीच २ में प्राचीनसम्प्रदायके मुखसे सुननेको मिलती हैं एवं देखा जाता है कि उनमें इसके लिये परस्पर मनमुटाव, विद्वेष एवं अनिष्टचेष्टा भी उपस्थित होकर इस हीन अवस्थामें स्थित समाज को अन्तर्विच्छेदसे विच्छिन्नकर अत्यन्त हीन कर रही है । किन्तु इस समय हिन्दूधर्मावलम्बियोंके परस्पर विवाद करनेका अवसर नहीं है—इस समय साधारणतः हमारे विद्रोही अनेक उपस्थित हुए हैं । उनको प्रबोध देनेके लिये हम सब को एक होकर चलना होगा । वास्तवमें हम लोगोंमें परस्पर भेद बहुत ही थोड़ा है, वह इतना थोड़ा है कि यथार्थ ज्ञाता की दृष्टिमें नहीं सा है । साम्प्रदायिक भेदके कारण किसीका किसी शास्त्रोक्त कर्मको न करना उचित नहीं है । जिनको अधिकार प्राप्त है उन्हें सभी शास्त्रोक्त कार्य्य अवश्य करने चाहिये ।

प्राचीनसम्प्रदायमें शास्त्रोक्त क्रियाकलापके सम्बन्धमें और एक प्रकारके मतभेदका उल्लेख होता रहता है । युगभेदसे कर्मभेद होता है ।

ध्यानं परं कृतयुगे त्रेतायाज्ञानमध्वरः ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे ॥
कृतेयद्ध्यायतोविष्णुंत्रेतायां यजतः फलम् ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥

इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य यही है कि सत्ययुगमें ध्यान प्रधान है, त्रेतायुगमें ज्ञान एवं यज्ञकी प्रधानता है, द्वापरयुगमें सेवा और यज्ञकी प्रधानता है एवं कलियुगमें दानधर्म और हरिकीर्तनकी प्रधानता है । इस प्रकार विभिन्न

युगोंमें किस २ अनुष्ठान की प्रधानता है–यही इन श्लोकोंमें कहा गया है। किन्तु शास्त्रके इस कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि इस कलियुगमें दान और कीर्त्तनके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म्म ही न करना चाहिये।

प्राचीन सम्प्रदायमें, विशेषकर जो लोग संसारसे विरक्त हैं, उन्हें कर्म-काण्डके सम्बन्धमें और एक भ्रम होता है। शास्त्रके बीच ज्ञानकाण्डमें कर्म्म-को हेय (अर्थात् त्याज्य) देखकर वे समझते हैं कि समस्त कर्म्मकाण्ड अपकर्ष-साधक है। केवल भक्ति अथवा ज्ञानसाधन ही मुक्तिका उपाय है। किन्तु गीताशास्त्रमें स्पष्टरूपसे इस भ्रम का निराकरण किया गया है। कर्मत्याग का अर्थ कर्मके स्वरूपका त्याग नहीं है, कर्मफलकी आकांक्षाका त्याग ही कर्म-त्याग है।

यज्ञो दानं तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।

यज्ञ, दान, तप आदि कर्म कभी त्याज्य नहीं हैं। इनको अवश्य करना चाहिये।

शास्त्र और शास्त्रीय धर्मोंके सम्बन्धमें यहाँतक जितने प्रभेदों का उल्लेख किया गया वे चाहे नव्यसम्प्रदायकी हठकारिताके कारण हों, चाहे प्राचीन सम्प्रदायकी संकीर्णभेदबुद्धिके कारण हों, चाहे शास्त्रके अर्थको न समझ सकनेके कारण हों–सभी अकिञ्चित्कर एवं अनिष्टकर हैं। किन्तु वक्ष्यमाण प्रभेदके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जासक्ता। यह भेद विश्वब्रह्माण्ड की त्रिगुणात्मक-तासे ही उत्पन्न है, सुतराम् एकप्रकारसे अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। क्या वेद, क्या स्मृति, क्या पुराण, क्या तन्त्र, कोई सात्त्विक, राजस एवं तामस भेदसे शून्य नहीं है। वेदोंमें कोई वेद सात्त्विक है, स्मृतियोंमें कोई स्मृति सात्त्विक है, पुराणोंमें कोई पुराण सात्त्विक है। इसीप्रकार इन सबमें राजस और तामस भेद भी हैं।

जब शास्त्रमें इस प्रकार भेद है तब शास्त्रोक्त कर्मोंमें भी इस प्रकारका भेद है–यह बताने की कोई आवश्यकता न होगी। कोई कर्म सात्त्विक है, कोई कर्म राजस है और कोई कर्म तामस है। इसीप्रकार मनुष्योंका स्वभाव भी सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे त्रिविध होता है। अतएव किसी व्यक्ति का किसी शास्त्रोक्त कर्म्म पर अधिक अनुरक्त होना और अन्य कर्म पर अल्प अनुरक्त होना सहजमें ही समझमें आ सक्ता है। जो जिस स्वभावका है वह अपने स्वभावके अनुकूल कर्मकाण्डका पक्षपाती होगा। सात्त्विकपुरुषकी सात्त्विक

कर्मोंमें रुचि होगी, राजस पुरुष की राजस कर्मोंमें रुचि होगी, और तामस पुरुषको तामसकर्म ही रुचेंगे ।

उल्लिखित नैसर्गिक भेदके सम्बन्धमें भी कहाजाता है कि राजस एवं तामस कर्मोंमें सामान्य स्वार्थसिद्धिका उपायमात्र रहता है । इसी कारण सब राजस और तामस कर्म काम्यकर्म होते हैं । सुतराम् यदि काम्यकर्मके परिहारकी चेष्टा की जाय तो अधिकांश राजस और तामसकर्म परित्यक्त हो सक्ते हैं ।

वास्तवमें नैमित्तिककर्म दो प्रकारके हैं । एक नित्यनैमित्तिक और दूसरे काम्यनैमित्तिक । नित्यनैमित्तिक कर्मोंके न करनेसे दोष होता है किन्तु काम्यनैमित्तिक कर्मोंके न करनेसे प्रत्यवाय दोष नहीं होता । इस प्रकरणमें नित्यनैमित्तिक कर्म हो संक्षेपमें विवृत किये जायँगे । काम्यनैमित्तिक कर्मसमूह नरनारियोंकी वासनाओंकी भाँति अतिविचित्र एवं बहुपल्लवित हैं । वे निम्न अधिकारियोंको संयमादि सिखाकर एवं उनके चित्तको शुद्धकर उनका उपकार करते हैं । किन्तु वे उच्च अधिकारियोंके लिये नहीं हैं एवं शास्त्रमें भी उनका वैसा गौरव प्रख्यापित नहीं है । समधिक विद्याबुद्धिसम्पन्न तेजस्वी ब्राह्मणलोग भी इन सब काम्यकर्मोंके प्रति विरक्ति प्रदर्शित करते रहते हैं । मैं जानता हूँ कि ऐसे किसी महापुरुषके एकमात्र पुत्रके अतिकठिन पीड़ासे पीड़ित होनेपर उसके आरोग्यलाभके लिये स्वस्त्ययन करने का अनुरोध करनेपर उन्होंने उसका करना अस्वीकृतकर कहा कि—"मैं डाक्टर या वैद्य का काम करनेके लिये देवता का आवाहन नहीं करसक्ता" । इस प्रकारके महातेजस्वी ब्राह्मणोंकी दृष्टिमें देवताके निकट सहायता पानेकी प्रार्थना, अथवा देशके जलकष्ट या अन्नकष्टके निवारण की प्रार्थना, अथवा महामारीभयके निवारणकी प्रार्थना, या किसी प्रकारकी कामना पूर्ण करने की प्रार्थना उचित या प्रशंसनीय नहीं है । वे किसी कामनासे प्रेरित होकर देवपूजन अथवा व्रतसाधनके अनुकूल नहीं हैं । आर्य्यशास्त्र का भी अभिमत ऐसा ही है । पुराणादिशास्त्रोंमें जिन सब प्रतापशाली दैत्य, दानव, असुर, राक्षस आदि का विवरण पाया जाता है वे सभी कोई रजोगुणके कोई तमोगुणके अधिष्ठाता देवताके निकट 'वर' को प्राप्त काम्यसाधक कहकर वर्णित हुए हैं—एक भी सत्त्वगुणाधिष्ठाता देवताका निष्काम उपासक कहकर नहीं वर्णित है । किन्तु वैसी उपासना ही प्रकृत उपासना है, साधारण मनुष्यों को कर्मकाण्डमें प्रवृत्त करनेके लिये ही फलश्रुति या अर्थादि का उल्लेख

किया जाता है । इसके अतिरिक्त निपट अल्पबुद्धि एवं परोक्षदृष्टिविहीन लोगोंके लिये विस्पष्ट अधर्माचरण द्वारा अभिलषित वस्तुके लाभकी चेष्टा करने की अपेक्षा देवताके उद्देशसे कार्य्यसाधन करना बहुत कुछ उत्कृष्ट है । लूट मार एवं चोरी डकैती करके धन पानेकी चेष्टाकी अपेक्षा योगिनीसाधन द्वारा धनी होने की चेष्टा अनेकांशमें अच्छी है । साधारणतः गृहस्थके लिये परोपकारादि-रूप उच्च उद्देश्य—साधनमूलक काम्यकर्मके करनेमें किसीदोष का होना नहीं जान पड़ता । किन्तु उच्च अधिकारीके लिये शास्त्रोक्त मार्गमें शास्त्रोक्त समयमें शास्त्रोक्त कार्य का करना अर्थात् विधि—प्रतिपालन करना ही धर्म्मकार्य्य है । कामना-सिद्धिके लिये मानुषिक यत्न करके ही निवृत्त होना उचित है; उसके लिये दैवी-शक्तिके संचालन की चेष्टा अवैध एवं अपकर्षसाधक है ।

पूर्वोल्लिखित सम्पूर्ण युक्तियोंके द्वारा प्रेरित होकर वैदिकता एवं सङ्कीर्णसाम्प्रदायिकताके अनुवर्त्तन को छोड़ कामनाशून्य होकर नित्य नैमित्तिक जो सब स्मार्त्त और पौराणिक कर्म देशमें प्रचलित हैं उन्हें यथाशक्ति करना आवश्यक है ।

कहनेका प्रयोजन यही है कि ये सब स्मृति—पुराणोक्त नित्यनैमित्तिक कर्म सकल वैदिककर्मोंके ही स्थानापन्न हैं । ये किसी न किसी रूपसे भारतवर्षमें सार्वभौमिक लक्षणसे लक्षित एवं आर्य्यमतवाद की भित्तिके सदृश जो सर्वेश्वर प्रतीति है उसीमें घनिष्ठरूपसे संसृष्ट हैं । अतएव प्रचलित नित्यनैमित्तिक कर्मों को इसी प्रकरणमें स्थान दिया जायगा ।

साधन, मुख्यरूपमें तन्त्रशास्त्र का विषय हैं । मूलतन्त्र सब मिलाकर चौंसठ (६४) हैं, उन चौंसठ तन्त्रोंके श्लोकोंकी संख्या एकलक्ष कही गई है । किसी तन्त्रका पूर्णरूपसे लोप नहीं हुआ है, तथापि सर्वत्र प्राप्त होनेवाले प्रचलित तन्त्रों की संख्या चौबीससे अधिक नहीं जान पड़ती । तन्त्रशास्त्र वंगदेशकीही विशेष आदरकी वस्तु है । इसमें वंगाक्षरोंके रूपका निर्णय हुआ है एवं उनकी पवित्रता प्रख्यापित हुई है । इस शास्त्रमें अथर्ववेदभागका अभि-चार षट्कर्म (मारण मोहन आदि) रूपमें परिणत है, योगशास्त्रका हठयोग और राजयोग—दोनो प्रकारका योग भलीभाँति विस्तृत है, सांख्य और वेदान्त दोनों दर्शनोंकी मीमांसा है एवं ये पवित्रभासे सम्मिलित हैं । इससे तन्त्रशास्त्र अति कठिन हो गया है—यह बात बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इस-

शास्त्रको यथार्थरूपसे सीखने और इसका यथायथ (ठीक ठीक) सम्यक् आचरण करनेसे शरीरकी पटुता, बुद्धिकी तीक्ष्णता एवं इच्छाशक्तिकी तेजस्विता इस प्रकार सम्बर्द्धित होती है कि मनुष्यके हृदयसे पूर्णतया पशुभाव दूर हो जाता है, और उसके स्थान पर वीरता और दिव्यभावकी स्थिति होती है। इसी कारण तन्त्र-शास्त्रके सम्बन्धमें कहा गया है कि—

श्रुतिस्मृतिविधानेन पूजा कार्य्या युगत्रये ।
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधीः ।

अर्थात् तीनयुगोंमें श्रुतिस्मृतिकथित विधानसे पूजा करनी चाहिये। कलियुगमें सुबुद्धिशाली मनुष्यको चाहिये तन्त्रोक्तविधिसे देवपूजन करें। इसश्लोकसे कलियुगमें तन्त्रशास्त्रानुयायी पूजनकी प्रधानतामात्र समझनी चाहिये। इससे कलिकालमें श्रुतिस्मृतिकथित विधिसे देवपूजन करनेका निषेध नहीं किया गया है। तन्त्रशास्त्रमें पारिभाषिक शब्दोंकी अत्यन्त अधिकताके कारण यह शास्त्र अत्यन्त दुरूह, दुर्ज्ञेय और गुरूपदेशसापेक्ष है। तन्त्रशास्त्रका प्रकृत तात्पर्य एवं प्रयोगप्रक्रिया प्रत्येक व्यक्तिको अपने २ गुरुसे सीखना होता है। इसकी साधनप्रणाली भी अतिगुह्य है—साधारणतः प्रकाश्य नहीं है। इसलिये इस प्रकरणमें तान्त्रिक साधनके सम्बन्धमें विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा।

नैमित्तिकाचार प्रकरण।

द्वितीय अध्याय ।

संस्कार—गर्भसंस्कार ।

चित्रं क्रमाद्यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

जैसे 'चित्र' चित्रकारकी लेखनीके बार २ फिरनेसे अङ्गप्रत्यङ्गसमन्वित होकर क्रमशः परिस्फुट हो उठता है वैसेही विधिपूर्वक वारम्वार संस्कारोंके होनेसे ब्राह्मण्यगुणका पूर्ण विकास होता है ।

दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर है ! चित्रलेखक पहले अपने मनोगत आदर्शको स्थूलरूपसे अङ्कित करता है, तदनन्तर क्रम २ से उसी चित्रके ऊपर जैसे २ अपनी लेखनीको चलाता है वैसे २ उसका हृदयगत आदर्श धीरे २ सुव्यक्त होता है । इसीलिये शास्त्रने कहा है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।

जन्मसे शूद्र होता है और संस्कारसे (आर्यशास्त्रोक्त आदर्शसदृश) द्विज होता है ।

संस्कार साधारणतः दशविध कहा गया है । यथा—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चूडाकरण, (८) उपनयन, (९) समावर्त्तन, (१०) विवाह । इनमें पहलेके तीन तो गार्भ-संस्कार हैं, द्वितीय तीन शैशव अवस्थाके और तृतीय दो किशोर अवस्थाके एवं चतुर्थ दो युवा अवस्थाके संस्कार हैं । अतएव प्रसिद्ध दशविध संस्कारोंमें प्रौढ़ अवस्थाके एवं वृद्ध अवस्थाके संस्कारोंका कोई उल्लेख ही नहीं है । वास्तव में प्रौढ़ अवस्था आदिके आचरणीय अन्य अड़तीस (३८) अनुष्ठान हैं * । वे

* वेदव्रत ४, पञ्चयज्ञ ५, पाकयज्ञ ७, हविर्यज्ञ ७, सोमयज्ञ ७ एवं ये आठ गुण—दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, सुमङ्गल, अकार्पण्य, अस्पृहा । सब मिलाकर ३८ हुए ।

यद्यपि कभी २ संस्कार नामसे उक्त हुए हैं तथापि याग या पूजा अथवा व्रत-नामसे ही समधिक प्रसिद्ध हैं । अतएव उनकी कोई बात यहां नहीं उठाई जायगी । यहां संस्कार कहनेसे पूर्वकथित दशविध अनुष्ठान ही समझे जायँगे ।

ये दशविध अनुष्ठान इस समय भी इस देशमें प्रचलित हैं । किन्तु राजधानी (कलकत्ता) अञ्चलमें विजातीय शिक्षाकी प्रबलता एवं संसर्ग दोषसे एवं रजोगुणकी अधिकता तथा ऐहिकताके आतिशय्यसे प्रथम चार संस्कारोंका प्रचलन बहुत कम होगया है । पाँचवाँ और छठा संस्कार- दोनो सम्मिलित होकर एक से होगये हैं । ऐसेही सातवाँ, आठवाँ और नवाँ—तीनों संस्कार मिश्रितप्राय होकर एकसाथ साधित होते हैं । दशम संस्कार जैसेका तैसा अनुण्णप्राय है । संस्कार कार्य स्थलविशेषमें यद्यपि इस प्रकार विकृत हो गये हैं किन्तु अब भी कहीं लुप्त नहीं हुए हैं । हमारी समझमें संस्कार-कार्योंका लोप होना अच्छा नहीं है । आर्य्यशास्त्रको आर्य्यशरीरमें आर्य्यगुणोंका उन्मेष करने देना आर्य्योंके लिये एकान्त कर्त्तव्य है ।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उल्लिखित दशविध संस्कार केवल ब्राह्मणोंके नहीं हैं, केवल द्विजातियोंके नहीं हैं । शूद्रोंको भी उपनयनको छोड़कर अन्य नव संस्कारोंके करनेका संपूर्ण अधिकार है । अन्तर इतनाही है कि शूद्रके यहाँ वैदिकमंत्रोंका पाठ पुरोहितादि ब्राह्मणोंके द्वारा किया जायगा ।

(१) गर्भाधान—पहले कहा जा चुका है कि संस्कार कार्यका उद्देश्य ब्राह्मण्यगुणका आधान या स्थापन है । उसी उच्चतम उद्देश्यके सिद्ध करनेके अभिप्रायसे आर्य्यशास्त्रने वेदमूलसे अर्थात् गंभीरतम विज्ञानमूलसे अवधारित किया कि पिता माताके शरीरमें दोष रहनेसे वह सन्तानमें संक्रामित होता है । इस प्रकृत तथ्यको निश्चित कर गर्भाधान एवं गर्भग्रहणयोग्यता तथा उसके उपयुक्त कालका निर्णय कर सन्तानके जन्मके समयमें भी जिसमें पिता माताका मन एकाग्र पशुभावसे इन्द्रियपरवश न होकर पवित्र सात्त्विकभावमें मग्न हो इसी लिये आर्यशास्त्रने गर्भाधान संस्कारकी व्यवस्था की है । गर्भाधानके समय पति को चाहिये कि पत्नीको इन कई एक मन्त्रोंका अर्थ बतावे । यथा—

"(परमव्यापक) विष्णु गर्भग्रहणका स्थान दें, (देवशिल्पी) त्वष्टा रूपका संमिश्रण करें, (अध्यर्थसेक) प्रजापति सिंचन करें एवं (सृष्टिकर्त्ता) विधाता तुम्हारे गर्भका संगठन करें (चतुर्दशीयुक्त अमावास्याकी चन्द्रकलाकी अधिष्ठात्री देवी)

सिनीवाली तुम्हारे गर्भाधान करें, (प्राणकी अधिष्ठात्री) सुरस्वती देवी तुम्हारे गर्भाधान करें, विकसित पद्ममालाधारी अश्विनीकुमार (जिनके अधिष्ठानमें उत्पन्न सन्तान सर्वदा देवतों द्वारा अभ्युदयको प्राप्त, स्वाभाविक विनीत, सत्त्वगुणयुक्त, सम्पन्न, स्त्रियोंका विभूषणस्वरूप एवं आत्मानन्दविशिष्ट होता है) नामक दोनो देव तुम्हारे गर्भाधान करें।"*

इस प्रकार उक्त, आनन्दपूर्ण, पवित्र, सब शुभलक्षणोंको उद्दीप्त करने वाले भावोंके साथ उत्पन्न की हुई सन्तान दिव्यभावयुक्त एवं सब प्रकार सुलक्षणसम्पन्न होकर उपजेगी—यह बात वेद और विज्ञान, दोनोंके मतमें अति सम्भवपर है।

जो लोग इन दोनों मन्त्रोंमें वैज्ञानिक तथ्य एवं उच्चतम कवित्व, एवं शास्त्रके परमतथ्य तथा सबमें सर्वात्मिका प्रतीति आदिका एकत्र समावेश देख कर चमत्कृत न होंगे उनसे हमको कुछभी वक्तव्य नहीं है। जो लोग इन मन्त्रोंके भावको समझ कर भक्तिभावपूर्ण होंगे उनसे हम अनुरोध और निर्बन्धपूर्वक कहते हैं कि वे कभी अपने वंशमें इस गर्भाधानसंस्कारका लोप न होने दें। उनके लिये एक बात और भी कह दी जाती है कि वर्त्तमान राजव्यवस्थाके द्वारा इस समय स्त्रीसहवासकी अवस्था निर्द्धारित होने परभी गर्भाधानसंस्कारका पालन निर्विघ्न हो सक्ता है, क्योंकि राजव्यवस्थाने प्रतिबन्धकस्वरूप होकर स्थलविशेषमें गर्भाधान संस्कारके लिये केवल विलम्बमात्र कर दिया है, वह संस्कारका निषेध या निवारण नहीं करती। ऐसे स्थलमें विलम्बके कारण अधिकारीके लिये किसी प्रकारका प्रत्यवायदोष नहीं घटित होसक्ता। वरन् युक्तप्रान्तके बहुत स्थानोंमें द्विरागमन का अपभ्रंश "गौना" नामक जो प्रथा प्रचलित है (एवं डेढ़ दो सौ वर्ष पहले बंगदेशमें भी जो प्रचलित थी) उसके अनुसार चलनेसे गर्भाधानके समयमें सहजही देर होती है। अतएव इस समय जो व्याहके आठदिन भीतर ही बिदा करानेकी अनिष्ट करनेवाली प्रथा प्रचलित होती जाती है उस आधुनिक रीतिके निवृत्त करनेसे ही सब ओर रक्षा हो सक्ती है। हमारे अति प्राचीन एवं प्रधान चिकित्सा शास्त्रमें जो कहा गया है,—धर्मशास्त्रका प्रकृत तात्पर्य उसके विपरीत नहीं हो सक्ता। सुश्रुतमें लिखाहै—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

---

* इस समयके चिन्तनीय वाक्य 'बृहदारण्यक' में हैं।

जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानन्न कारयेत्॥

पचीसवर्षसे न्यूनावस्थाका पुरुष यदि सोलहवर्षसे कम अवस्थावाली स्त्रीमें गर्भाधान करता है तो वह गर्भ माताकी कोखमें ही नष्ट हो जाता है। यदि उत्पन्न भी हुआ तो बहुत समय तक जीवित नहीं रहता, यदि दैवसंयोगसे जीवित भी रहा तो उसका शरीर शिथिल और इन्द्रियाँ दुर्बल रहती हैं। इस कारण अत्यन्त बाला स्त्रीमें गर्भाधान न करना चाहिये।

गर्भाधानआदि संस्कारकार्य्योंसे निजकुलकी वृद्धि होती है; इस लिये ऐसे सभी कार्योंमें पूर्वपुरुषोंका अर्थात् जिनके कुलकी वृद्धि होगी उनका भक्तिपूर्वक स्मरण करनेकी आज्ञा पुण्यमय आर्य्यशास्त्रमें दी गई है। पूर्वपुरुषोंका भक्तिपूर्वक स्मरण श्राद्धकृत्यद्वारा सम्यक् सिद्ध होता है। श्राद्ध इसीलिये संस्कारकार्य्यका एक प्रधान अंगहै, एवं इन सब श्राद्धोंमें वृद्धि सूचित होती है—इस कारण इनको वृद्धिश्राद्ध कहते हैं, एवं मंगलके प्रवर्तक होनेके कारण प्रधान या पूर्वपुरुषों को नान्दीमुख कहा जाता है इसलिये संस्कारके अङ्गस्वरूप श्राद्धोंको भी नान्दीमुख श्राद्ध कहते हैं।

गर्भावस्थाके द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन एवं तृतीय संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। ये दोनों संस्कार गर्भरक्षाके लिये उपयोगी हैं—उसीसे इनकी सृष्टि हुई है। मानवीगर्भके विनष्ट होनेके दो समय अतिप्रबल होते हैं। एक तो गर्भधारणके उपरान्त तीसरे महीनेसे लेकर चौथे महीनेके बीचमें और दूसरा छठे महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीचमें। अतएव इन दोनों समयोंमें विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीकी रक्षा करनेकी आवश्यकता होती है। शास्त्रमें इन दोनों समयोंमें दो संस्कारोंकी व्यवस्था है।

(२) पुंसवन—यह संस्कार सीमन्तोन्नयनसे प्रथम किया जाता है। इस-संस्कारका समय गर्भग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है पुरुष-सन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इनका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होता; क्योंकि साधारणतः चौथे महीनेके पहले स्त्री या पुरुष का चिन्ह नहीं होता अतएव स्त्री या पुरुष का चिन्ह प्रकट होनेके पहले पुंसवन संस्कार करनेकी विधि बनाई गई है। साधारणतः सभी देशोंकी स्त्रियां कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं; विशेषकर भारतवर्षकी स्त्रियाँ बहुत अधिक पुत्र की अभिलाषा करती हैं; सुतराम्

वृद्धिश्राद्ध एवं मांगलिक हवन आदि समाप्त कर जब पति मंत्रपाठ पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि—

"मित्रावरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अश्विनीकुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं एवं अग्नि और वायु-ये भी दोनों पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है"

उस समय गर्भिणीका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समय का अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद एवं भीति और आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है एव गर्भपोषणका बल जैसे फिरसे आ जाता है। पुंसवनमें दो बड़ (बरगद) के फलोंको उर्द और यवके साथ गर्भिणीकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी व्यवस्था है। इन वस्तुओंमें गर्भरक्षाकी शक्ति है या नहीं—सो तो कह नहीं सक्ते, किन्तु इतना अवश्य है कि सुश्रुतग्रंथमें न्यग्रोध अर्थात् बड़के विषयमें लिखा है कि वह योनिदोषोंको नष्ट करनेवाला है।

(३) सीमन्तोन्नयन—गर्भरक्षाविधायक दूसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन है। इसका समय गर्भग्रहणके उपरान्त छठा या आठवाँ महीना है। इसका मुख्यकर्म गर्भिणीके सीमन्त (माँगके कुछ केशों) को उखाड़ देना है। सीमन्तके कुछ केश उखाड़ देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको फिर शृङ्गारवेशसे भूषित अथवा सुगंधादिसे सुवासित नहीं होना चाहिये, पुष्पमाल्य आदि का धारण एवं स्वामीसे सहवास न करना चाहिये।

पुंसवनके उपरान्त सन्तान-प्रसवपर्यन्त समयके भीतर विशिष्ट शुभ मुहूर्तमें सीमन्तोन्नयनसंस्कार करना चाहिये एवं यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पुंसवनके उपरान्त जितना ही शीघ्र यह कार्य्य कर डाला जाय उतना ही अच्छा है*। किन्तु गर्भाधानके छठे महीनेसे आठ महीनेके भीतर ही सर्वत्र यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारमें पति, वृद्धिश्राद्ध और चरु पाक आदि कर चुकने पर एकवृन्तस्थित पके हुए दो यज्ञडुम्बर (गूलर) के फल एवं अपरापर कईएक मांगलिक पदार्थोंको रेशमी वस्त्रसे गर्भिणीके गलेमें बाँधकर पहले जिस मन्त्रको सुनाता है उसका अर्थ यह है—

* कदाचित् प्रसवके उपरान्त भी जो सीमन्तोन्नयनकी आज्ञा है वह मुख्यतया संस्कारकी दृढ़ता या अत्यन्त आवश्यकता जताती है, क्योंकि उस समय इसके द्वारा इसके प्रकृत उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। किन्तु "सन्तानोत्पत्तिके उपरान्त भी विलम्बसे स्त्रीसमागम करना चाहिये"—यह तथ्य सूचित होनेसे शास्त्रके उद्देश्यकी यौक्तिकता सूचित होती है।

'तुम इस ऊर्जस्वल उदुम्बर (गूलर) वृक्षसे ऊर्जस्वला बनो । हे वनस्पते ! जैसे पत्तेके उपरान्त पत्तेकी उत्पत्तिसे तुम्हारी समृद्धि होती है वैसे ही इसमें पुत्ररूप परमधन उत्पन्न हो" ।

तदनन्तर कुशगुच्छ द्वारा गर्भिणीके सीमन्तभागके केश उखाड़े जाते हैं ।

फिर पति शर-काष्ठिकाके द्वारा सीमन्तोन्नयन करता हुआ कहता है कि—"जिस शर द्वारा प्रजापति [कश्यप (मद्य या जल पीनेवाले)-नभोमण्डल] ने देवमाता अदिति [समस्त पृथ्वी] के सौभाग्यसम्पादनके लिये [चक्रवाड़-रेखास्वरूप] सीमन्तोन्नयन किया था उसीशरके द्वारा मैं इस गर्भिणीके सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्रपौत्रादिको उनकी जरावस्थापर्यन्त दीर्घजीवी करता हूं।"

तदनन्तर नलिकाके द्वारा सीमन्तोन्नयन करता हुआ पति कहता है कि—"शोभनस्तुति द्वारा मैं सुन्दरी पौर्णमासी (गर्भाधानमें सिनीवाली अर्थात् अमावास्याके अन्तर्निविष्ट चन्द्रकलाका आवाहन हो चुका है, इस समय गर्भ सम्पूर्णताको प्राप्त हो चुका है, अतएव राकापौर्णमासीका आवाहन होता है) का आवाहन करता हूं—वह हमारे शोभनवाक्यको सुनकर अवधारण करे एवं अच्छिद्यमान सूचीकर्मद्वारा पुत्रपौत्रादि-जननके व्यापार को अनुस्यूत करे तथा अत्यन्तदानियोंमें श्रेष्ठ एक पुत्र दे ।"

"हे पौर्णमासी ! वह शोभन बुद्धि, जिसके द्वारा तू यजमान को ऐश्वर्य्ययुक्त करती है उसी बुद्धिसे सम्पन्न होकर आज हमारे समीप आगमन कर। हे सुभगे ! हमको ऐसा पुत्र दे जो सहस्रोंका पोषण करे ।"

अन्तमें पति घृतसहित चरु दिखाकर गर्भिणीसे पूछे कि—"तुम क्या देखती हो ?" और फिर इसके उत्तरमें उससे कहलावे कि "मैं प्रजा देखती हूं, गो-महिष आदि धन देखती हूं एवं पतिकी दीर्घायु देखती हूँ" ।

कैसे क्षोभका विषयहै कि ऐसे प्रीति और आनन्दको बढ़ानेवाले एवं सुदूरदर्शी बनानेवाले पवित्र कार्य्य हमारे देशसे उठते जाते हैं । भारतवर्ष दीन हीन अवस्था को प्राप्त हो गया है—यह बात सत्य है, किन्तु यह शास्त्रीय कार्य्योंके विलोपसे जैसा हीनदशाको प्राप्त हो रहा है वैसा और किसी कारणसे नहीं ।

गर्भावस्थाके जो ये तीन संस्कार उल्लिखित हुए, किसी २ के मतमें एकही बार इनके करनेसे भी काम चल सक्ता है । किन्तु किसी २ के मतमें प्रतिगर्भमें इन संस्कारों को करना चाहिये । संस्कारोंके द्वारा जो अति उदार भावपरम्परा

पति-पत्नीके हृद्गत हो जाती है सो फिर कभी विस्मृत नहीं हो सकती अथवा तुच्छ नहीं जँचसकती, इसी कारण इन संस्कारोंके एकबार करनेसे ही यावज्जीवन के लिये निर्वाहित होगये—ऐसा भी समझा जा सक्ता है।

बंगदेशके अनेक घरोंमें इन तीनों गर्भावस्थाके संस्कारोंको केवल एक बार ही करके निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् दुबारा फिर नहीं करते। किन्तु बंबई एवं उत्तरपश्चिम अंचलमें जो सब स्मार्त्तग्रंथ प्रचलित हैं उनमें इन संस्कारोंके प्रतिबार करनेकी ही व्यवस्था प्रबलतर जान पड़ती है।

"केचिद्गर्भस्थसंस्कारान्प्रतिगर्भं प्रयुञ्जते।"

नैमित्तिकाचार प्रकरण

तृतीय अध्याय ।

संस्कारकर्म–शैशवसंस्कार ।

निपट शैशव अवस्थामें ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया—इनमेंसे किसी भी शक्ति का उन्मेष नहीं होता। शीघ्र ही उत्पन्न हुआ बालक कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं चाहता, कुछ भी नहीं करता । इसलिये शिशुके संस्कार पुरुष-संस्कारके समान न होकर कुछ २ द्रव्यसंस्कारके सदृश होते हैं अर्थात् कुछ एक संस्कारोंमें उसका शरीर शुद्ध किया जाता है और कुछ एक संस्कार शिशुके प्रति पिता माता प्रभृतिके यत्नके उद्भावन एवं परिचालनमें पर्यवसित हैं। तीनों शैशव संस्कारोंके उल्लिखित लक्षण क्रमशः दिखलाये जायंगे।

१। जातकर्म। शैशवके प्रथम संस्कारका नाम जातकर्म है। यह सन्तान के पृथ्वीपर गिरते ही किया जाता है। इस संस्कारका कार्य यह है कि पिता पहले यव एवं चांवलके चूर्ण द्वारा, तदनन्तर सुवर्णद्वारा घिसे गये मधु एवं घृत को लेकर सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें लगाता है । इस समय पढ़ने के मंत्रका यह तात्पर्य है कि—"यह अन्नही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है—तुमको ये सब प्राप्त हों। मित्रावरुणनामक दोनों देव तुमको मेधा दें। पद्म-मालाधारी अश्विनीकुमार नामक दोनो देव तुमको मेधा दें। सदसस्पति (वृहस्पति) जो इन्द्रके परम प्रीतिपात्र एवं इन्द्रके अभीष्टार्थसाधक एवं मेधा देनेवाले हैं उनसे भी प्रार्थना है कि वह तुमको मेधादान करें"।

इस मन्त्रके प्रथम भागमें एक वैदिक अथवा गभीरतम वैज्ञानिक तथ्यका विकाश है। परवर्त्तीभागसे पिता माता एवं गोष्ठीके लोग सभी समझ सक्ते हैं कि ब्राह्मणसन्तानके लिये धन आदिके निमित्त प्रार्थना नहीं है और आयुकी प्रार्थना एक बार मात्र है, किन्तु मेधा, धारणाशक्ति या बुद्धिके लिये बारम्बार प्रार्थना की गई है । अतएव ब्राह्मणसन्तानका पालन जिस उद्देश्यसे होना आवश्यक है, सो इस प्रथम संस्कारसे ही सूचित हो गया।

इस संस्कारमें सन्तानकी जिह्वामें सुवर्णसे घिसा हुआ घृत मधु दिया गया एवं यव और चावलका चूर्ण चखाया गया। सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुके अनेकगुण हैं १–सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है, मूत्रको साफ़ करता है एवं रक्तकी ऊर्ध्वगतिके दोषको शान्त करता है। २–घृत शरीरमें ताप को बढ़ाता है, बलकी रक्षा करता है और खुलकर मलत्याग कराता है। ३–मधु मुखमें 'लार' का संचार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है एवं कफदोषको निवृत्त करता है। अर्थात् यह संस्कार वायुदोषकी शान्तिका और गलनालिका, उदर एवं आँतों को सरस बनानेका एवं मलमूत्रके निकालने और कफको कम करनेका उपाय है। सद्योजात शिशुको ऐसी औषध तुल्य वस्तुएँ क्यों चखाई जाती हैं—सो अनायास ही समझमें आसक्ता है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको हो जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक होता है एवं उसकी आंतोंमें एक प्रकारका काला २ मल संचित रहता है, वही मल न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएं उपजती हैं। इसी लिये डाक्टर साहब भी सद्योजात शिशुओंके लिये मधुमिश्रित रेंडीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतैलकी अपेक्षा समधिक दिग्दर्शी और समधिक उपकारी है—यह बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। देशीय व्यवस्थामें जो वायुदमन एवं रक्तकी ऊर्ध्वगतिके निवारणका उपाय है सो साहबी व्यवस्थामें नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुवर्णका घिसा घृत-मधु शिशुओंकी जिह्वामें देनेमें अति विशद लौकिक युक्ति ही देखी जाती है। किन्तु जिह्वामें यव और चाँवलका चूर्ण चखाने की वैसी कोई युक्ति हमारी समझमें नहीं आई। किन्तु न समझ सकने पर भी ऐसे स्थलपर शास्त्रके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर उसकी सब आज्ञाओंका पालन करना ही हम विधेय समझते हैं। इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ-मातृ-शरीरज कुछ एक दोषोंका नाश होता है—ऐसा शास्त्रमें कहा गया है।

जातकर्मके सम्बन्धमें शास्त्रकी आज्ञा समझनेमें कुछ विशेष गोलमाल है। शास्त्रने कहा कि जातमात्र सन्तानका जातकर्म होना चाहिये—अर्थात् उसकी जिह्वामें उल्लिखित सब पदार्थोंको डालना चाहिये; उसकी 'नार' कटनेके पहले ही यह कृत्य करना चाहिये। किन्तु जातकर्म एक संस्कार है, इसलिये नान्दीमुख या वृद्धिश्राद्ध उसका एक अंग होना चाहिये। सन्तानके पृथ्वीपर गिरनेके उपरान्त यदि पिताको यह संस्कारका अंगस्वरूप श्राद्ध करना होगा तो 'नार' कटनेमें बहुत बिलम्ब हो जायगी एवं ऐसा भी हो सक्ता है कि उसी बिलम्बके

कारण सन्तानके जीवन पर संकट आ पड़े। सुश्रुतजीकी व्यवस्था है कि नाड़ी-छेदके उपरान्त जातकर्म करना उचित है। किन्तु यह व्यवस्था भी समीचीन नहीं जान पड़ती क्योंकि नार कटते ही सूतकाशौच हो जायगा एवं उस अशौच अवस्थामें कोई संस्कार कार्य्य नहीं होसका। इन्हीं सब झगड़ोंके कारण कोई २ शास्त्रके ज्ञाता पण्डित अशौचके अन्तमें जातकर्म्म करनेकी व्यवस्था कर गये हैं। यथा दायभागकी टीकामें—

जातस्य प्राणवियोगापत्त्या जातेष्टा अशौचान्ते कर्त्तव्यता।

जात (उत्पन्न) सन्तानके प्राणवियोगकी आपत्तिके कारण अशौचके अन्तमें जातकर्म करना चाहिये।

किन्तु संस्कारको इस प्रकार असमयमें अर्थात् दश दिनके उधर घसीट कर ले जानेसे उसका प्रकृत उद्देश्य सम्पूर्ण व्यर्थ हो जाता है-सो बतानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी लिये इस समय कोई २ बहुदर्शी विवेचक पण्डित जिस कार्य्यप्रणालीका अनुसरण करते हैं वही समीचीन जान पड़ती है एवं साधारणतः उसीका ग्रहण करना उचित है। शास्त्रमें भी कहा गया है—

अङ्गत्वेऽपिच कालस्य न त्यागोऽन्याङ्गवत्क्वचः।
अनुपादेयरूपत्वात्काले कर्म विधीयते॥

जिसस्थलपर 'काल' शास्त्रोक्त क्रियाका अंग है वहाँ उसकी अनुपादेयताके कारण अन्य सब अंगोंके समान उसका त्याग नहीं हो सक्ता। ठीक समयमें ही कर्म करना आवश्यक एवं उचित है। अतएव पहलेसे ही सुवर्ण, घृत, मधु एवं कषणपाषाण (कसौटी) आदिका ठीकठीक करके प्रसवके उपरान्त ही उसी क्षण पलभरकी भी देर न करके नाड़ीछेदके पहले ही सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें सुवर्णका घिसा घृत और मधु देकर पूर्वोक्त मन्त्रपाठ करना चाहिये। अङ्गहानिके भयसे मुख्य कर्मका त्याग न करना चाहिये।

२। नामकरण। शैशवके द्वितीय संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके उपरान्त दश रात्रियां बीतनेपर उसका नाम रखना होता है। दश रात्रियाँ बिताकर 'नामकरण' करनेका कारण अति सुस्पष्ट है। सूतिका गृह में जितने लड़की लड़के मरते हैं उनमें लगभग तीन भागके प्रथम दश रात्रियोंमें ही नष्ट होते हैं। इसी कारण जान पड़ता है कि प्रथम दश रात्रियां छोड़ दीगई हैं। किसी वस्तुका नामकरण हो जानेपर उसके सम्बन्धमें मनकी एक प्रकार दृढ़ता हो जाती है। यदि सद्योजात शिशु अकालमें कालकवल

हो जाय तो इसके विषयमें चिन्ता और शोक करनेके लिये उसका नाम ही एक अवलम्बनस्वरूप हो रहता है। अतएव पहलेकी दश रात्रियोंमें शिशुका नाम रखने की व्यवस्था नहीं की गई है । बरन् दशरात्रि या शतरात्रि अथवा पूर्ण वर्ष बीत जानेपर नाम रखनेकी व्यवस्था है । इस समय अन्नप्राशन संस्कारके साथ जो नाम रखनेकी प्रथा प्रचलित हुई है सो अशास्त्रीय नहीं है । बरन् देशमें शिशुओंके मरनेकी संख्या जिस प्रकार अतिभीषणरूपसे बढ़ गई है उसे देखकर इस गौण-कल्पका अवलम्बन ही इस दुःसमयके लिये उपयोगी जान पड़ता है । अतएव दशरात्रिके उपरान्त नामकरण न करके अन्नप्राशनके समयमें किया जाय तो भी कोई विशेष दोष नहीं है ।

नामकरण संस्कारमें शिशुके जन्मग्रह एवं नक्षत्र तथा अन्यान्य देवताओंके उद्देश्यसे हवन कर और वृद्धिश्राद्ध आदिको समाप्त कर जिस प्रकार पिताको बालकका नाम कह देना चाहिये सो नीचे लिखे मंत्रके अर्थको देखनेसे विदित होगा । माता बच्चेको गोदमें लेकर पूर्वकी ओर मुख करके निज पतिके वाम भागमें अवस्थित हो एवं पिता अपने शिशु सन्तानसे कहे कि:—

"तुम कौन हो ?-तुम्हारी क्या जाति है ?, तुम-अमृत अर्थात् अविनाशी हो । हे अमृत ! तुम सूर्य्यसम्बन्धीय मासमें प्रवेश करो । हे अमृत ! सूर्य्य तुमको दिनसे दिनमें प्राप्त करें, दिन-रात्रिमें प्राप्त करें । दिन और रात्रि—दोनों पक्षमें प्राप्त करें । दोनों पक्ष-पूर्ण मासमें प्रवेश करावें । मास-ऋतुमें प्रवेश करावें । ऋतुए सम्वत्सरमें और सम्वत्सर जराजर्जरव्यक्तिकी पूर्ण आयु अर्थात् १०० वर्षकी सीमा तक पहुंचावे ।"

इस मंत्रमें जीवात्मा की अविनश्वरता जतानेके अतिरिक्त यह बात कैसी सुन्दर रीतिसे प्रकट की गई है कि सन्तानपालनमें कैसी सावधानताके साथ दिन गिनकर चलना होता है । इससे पिता माताके मनमें (सन्तानपालनके सम्बन्धमें) अवश्य ही शुभ फल होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु स्वयं शिशुके लिये क्या लाभ हुआ ? इसके उत्तरमें शास्त्र कहता है कि उसके जातिभ्रंशकर दोष अर्थात् जिस दोषके कारण जाति नहीं जानी जाती उसीका अपनोदन होगया । क्योंकि विभिन्नजातिके सन्तानोंकी विभिन्नरूपसे नाम रखनेकी व्यवस्था है । जैसे (१) ब्राह्मणके लिये 'देव शर्मा', (२) क्षत्रियके लिये 'जात वर्मा', (३) वैश्यके लिये 'भूति गुप्त दत्त' एवं (४) शूद्रके लिये 'दास' ।

(३) अन्नप्राशन । शैशव अवस्थाके तृतीय संस्कारका नाम है अन्नप्राशन । पुत्र हो तो छठे या आठवें महीने और कन्या हो तो पाँचवें या सातवें महीने यह संस्कार करना चाहिये । अन्नप्राशनके लिये विशेषलक्षणसम्पन्न शुभ दिन ठीक करना होता है । वृद्धिश्राद्ध कर चुकने पर पिता सन्तान को गोदमें लेकर बैठे और माता उसमें वामभागमें बैठे । तब पिता मंत्र पढ़ता हुआ हवन करे और फिर सन्तानके मुखमें अन्न का 'ग्रास' दे । मंत्रका तात्पर्य यह है–

"अन्न ही एक आच्छादक अर्थात् रक्षक है । अन्न ही सकल जीवोंकी रक्षा करता है । अन्नविशिष्ट अर्थात् ऐश्वर्य्ययुक्त व्यक्तिही श्री है, उनमें प्रधान विरोचन (सूर्य) अन्नद्वारा आधिपत्य प्रदान करें । सब अन्न रसोंका प्रधान घृत एवं वही (सूर्यही) तेज और सम्पत्ति हैं, इन्हीं की कामनासे मैं हवन करता हूँ । अन्नपति (सूर्य्य), आरोग्यकर एवं अग्निवृद्धिकर अन्न-बल दें और अन्नदाता को तारें तथा हमारी चतुष्पद अवस्थामें अर्थात् युग्मभावमें एवं द्विपद अवस्थामें अर्थात् अयुग्म-भावमें मङ्गलप्रदान करें" । तदनन्तर स्वर्ण-घृष्ट घृत एवं मधु लेकर सन्तानकी जिह्वामें लगाकर उसे माताकी गोदमें दे देना चाहिये ।

शास्त्र कहता है कि अन्नप्राशन संस्कारके द्वारा शिशुके सङ्करीकरण दोष-का निराकरण होता है । खाद्य-अखाद्यका विचार न होना ही सङ्करीकरण दोषका लक्षण है । अन्नप्राशन संस्कारमें मनुष्यके खाद्य पदार्थ निर्दिष्ट होते हैं ।

इस समय भी अन्नप्राशन संस्कार का लोप नहीं हुआ है, वरन् अनेकानेक नवीन २ अङ्गप्रत्यङ्ग संयुक्त कर दिये गये हैं । इस समय प्रवाद प्रचलित हो गया है कि पिता माताको सन्तानका अन्नप्राशन न देखना चाहिये । मामाको अन्नप्राशन कराना चाहिये, यदि मामा न हो तो और कोई इस कृत्यको कर सक्ता है । ऐसा होनेसे कोई विशेष दोष नहीं होता । क्योंकि अन्नप्राशनका कार्य प्रति-निधिके द्वारा भी सम्पन्न हो सक्ता है । सुतराम् मातुल ही जैसे पिताका प्रतिनिधि होकर यह कार्य करता है । उत्तरपश्चिम अञ्चलमें यहाँतक कि विहार प्रदेशमें भी मातुलके द्वारा अन्नप्राशन करानेकी विधि या रीति नहीं है । अतएव समझा जा सक्ता है कि बंगभूमिमें गोष्ठीपति ब्राह्मण ही दौहित्र सन्तानके प्रति विशेष-समादर दिखलाते हुए क्रमशः इस प्रथाको चला गये हैं ।

निष्क्रमण । जिन तीन शैशव संस्कारोंका उल्लेख इस अध्यायमें किया गया है उनके अतिरिक्त और भी एक संस्कार है । उसे निष्क्रमण कहते हैं । यह

संस्कार जन्मदिनसे तीसरे शुक्लपक्षमें तृतीयाके दिन करना चाहिये। प्रथमवार नान्दीमुखश्राद्ध आदिके साथ यह संस्कार करना चाहिये, तदनन्तर सन्तान जबतक एक साल का पूरा न हो तब तक प्रतिशुक्लपक्षकी तृतीयाको यह संस्कार करना चाहिये। संस्कारके मन्त्रका अर्थ यह है—

"हे चन्द्र! तुम्हारे शोभनात्मक प्रकाशसे प्रकाशित एवं सन्तानके आनन्दजनक अन्तःकरणके भीतर आत्माका स्थान निहित है। उसी ब्रह्मको मैं जानता और मानता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि मैं पुत्रसम्बन्धीय किसी अघका भागी न बनूँ। जो पृथ्वीका अमृत एवं दिवलोकमें चन्द्रके मध्यमें अवस्थित है, उसको मैं जानताहूँ। मुझको पुत्रसम्बन्धीय कोई व्यसन (संकट या कष्ट) न प्राप्त हो।"।

"चन्द्रके मध्यमें जो कृष्णवर्णलाञ्छित (शोककालिमा) है—सो पृथ्वीके हृदयमें भी है उसे मैं जानता और देखता हूँ। अब मुझे पुत्रसम्बन्धीय शोकसे न रोना पड़े"।

मंत्रोंमें आत्माका विभुत्व, पुत्रके लिये पिताकी आन्तरिक व्याकुलता एवं शोककी मलिनता भूलोक एवं स्वर्गलोक—सब लोकोंमें व्याप्त है-यह विश्वास अति सुन्दर रूपसे प्रकट किया गया है। किन्तु इनमें प्रकट रूपसे पिता अपने ही लिये प्रार्थना करता है। निष्क्रमणसंस्कारको पौष्टिक या पुष्टिसाधक संस्कार कहते हैं एवं यह मुख्य संस्कारोंमें नहीं गिना जाता।

नैमित्तिकाचार प्रकरण ।

चतुर्थ अध्याय ।

संस्कारकर्म—कैशोरसंस्कार ।

जो दोनों संस्कार कैशोर या किशोर अवस्थाके कहे गये हैं उनमेंसे एक तो बाल्यावस्थामें और दूसरा किशोर अवस्था में किया जाता है। किन्तु इस समय दोनोको एकसाथ किशोर अवस्थामें ही कर डालते हैं।

१ चूडाकरण। उल्लिखित दोनों संस्कारोंमेंसे पहलेका नाम चूडाकरण है। इस संस्कारका मुख्य समय शिशुका तीसरा वर्ष है। किन्तु पहले वर्ष अथवा पाँचवें वर्ष आदि अन्यान्य अयुग्म अर्थात् विषम वर्षोंमें भी चूडाकरण किया जा सका है। चूडाकरणका प्रधान कार्य केश-मुण्डन है गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं उन सबको दूर कर चूडाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा और संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसी लिये कहा जाता है कि चूडाकरणके द्वारा अपात्रीकरण दोषका अपनयन होता है।

नान्दीमुखश्राद्ध एवं हवनआदि करके सूर्यका ध्यान करते हुए पुरोहित और नापितकी ओर देख कर जो मंत्र पढ़ना चाहिये उसका तात्पर्य यह है—

"जिस सुधिति या छुरेके द्वारा पूषा (सूर्य)ने बृहस्पतिका केश-मुण्डन (रश्मिजालसंयमन) किया था, जिस सुधितिके द्वारा वायुने इन्द्र (मेघवाहन) का मुण्डन (मेघोंको हटाना) किया था उसी ब्रह्मरूपी सुधिति द्वारा तुम्हारे केशोंका मुण्डन करते हैं तुम्हारी आयु, तेज और बल आदि वृद्धिको प्राप्त हों। यमदग्नि (ऋषिकी बाल्य, यौवन, जरा अथवा मध्यखगोलस्थित नक्षत्रविशेष) की तीनों आयु (उदय, भोग, अस्त) तुमको प्राप्त हो। अगस्त्य (ऋषिकी बाल्य, यौवन, जरा अथवा दक्षिणखगोलस्थित नक्षत्रविशेष) की तीनो आयु (उदय, भोग, अस्त) तुमको प्राप्त हों। देवताओं (दीप्तिमान् साधारण नक्षत्रों) की तीनों आयु (उदय, भोग, अस्त) तुमको प्राप्त हों"।

स्पष्ट ही देख पड़ता है कि यह संस्कार शैशवकालका होनेके कारण इसमें द्रव्य-संस्कारका लक्षण जैसा सुस्पष्ट है वैसा पुरुष-संस्कारका लक्षण परिस्फुट नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी शिशुरूपी क्षुद्र ब्रह्माण्ड वृहत् ब्रह्माण्डके अनुरूप है—इसकी सूचना स्पष्ट रूपसे इस मन्त्रके मध्यमें निहित है।

२ उपनयन। प्रकृतप्रस्तावमें यही कैशोर संस्कार है। द्विजातिके बालक इसी संस्कारके द्वारा ज्ञानशिक्षाके उद्देश्यसे शिक्षक आचार्यके समीप उपनीत होते हैं। शास्त्रकी विधि यही है कि ब्राह्मणकुमार पाँचवर्षकी अवस्थासे सोलहवर्षकी अवस्था तक इस संस्कारके अधिकारी रहते हैं। क्षत्रियके बालक छ: वर्षकी अवस्थासे बाईस वर्ष की अवस्था तक तथा वैश्यबालक आठ वर्षकी अवस्थासे चौबीस वर्षकी अवस्था तक उपनयनके अधिकारी या योग्य रहते हैं। शूद्रको इस संस्कारका अधिकार नहीं है।

उपनयनसंस्कारमें यथाविधि श्राद्ध एवं हवनके उपरान्त अनेकानेक अनुष्ठान अनुष्ठित होते हैं एवं अनेकानेक मन्त्रोंका उच्चारण होता है। स्थूलरीतिसे एक एक करके उन मन्त्रोंका तात्पर्य एवं अनुष्ठानोंकी प्रकृति कहते हैं।

एक मन्त्रमें अग्निसे कहा गया है—"मैं (द्विजातीय बालक) उपनयन व्रतका आचरण करूंगा सो तुम (अग्नि) से निवेदन करता हूं * * * इस व्रतके द्वारा अध्ययनरूप समृद्धि प्राप्त करूंगा। मैं मिथ्या वचनसे पृथक् रहूंगा एव सत्यस्वरूप बन जाऊंगा, मेरी यथेष्टोपचारिता जाती रहेगी एवं मेरा आचार नियत होगा"।

वायु देवता, सूर्य देवता, चन्द्र देवता एवं इन्द्र देवतासे भी अविकल येही बातें कहे जानेके कारण इन बातोंकी बारम्बार आवृत्ति होनेसे इनका तात्पर्य हृद्गत हो जाता है। उपनयन संस्कारका उद्देश्य सत्यज्ञान एवं सदाचारलाभ अर्थात् मनुष्यजीवनकी सर्वश्रेष्ठ सार वस्तुकी प्राप्ति है। आर्यशास्त्रने उसका जैसा मार्ग दिखाया है उसमें समस्तशिक्षाकार्यकी प्रणाली अत्यन्त संक्षेपसे प्रकाशित हुई है। पहले आचार्य शिष्यके प्रति (सूर्य-ज्ञानसे) दृष्टिपात करता हुआ कहे कि—"हे पञ्चदेव ! तुम इस सुन्दर मानव (क्षुद्र मनुष्य) को मुझसे मिला दो। हम दोनों विना किसी विघ्नके परस्पर सम्मिलित हो सकें"। यह बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि गुरु-शिष्यका सम्यक् सम्मिलन ही शिक्षाका प्रथम और प्रधान अनुष्ठान है। तदनन्तर माणवक अर्थात् शिष्य आचार्य्यसे कहता है

कि—"मैं ब्रह्मचारी (अर्थात् मैथुनवृत्तिविहीन) हुआ हूं, अतएव मुझको उपनीत करिये, अपने समीप ग्रहण करिये"। मैथुनसे निवृत्तिशिक्षाग्रहणसमयकी अत्यन्त प्रयोजनीय व्यवस्था है। यह बात सर्ववादिसम्मत है। तब आचार्य माणवक (शिष्य) के नामआदि (एवं जन्मगोत्रादि) को पूछता है।

फिर माणवकके अपना नाम आदि (अर्थात् निजनाम पिता और पितामहका नाम एवं गोत्रादि) बता चुकने पर आचार्य माणवकको निकटस्थ कर (आहूत अग्निके एवं अपने मध्यभागमें अवस्थित कर) दोनों ही अपने २ हाथोंमें (तृप्तिसूचक) अंजली भर जल लेकर एवं आचार्य्य अपने शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही उस अंजलीके जलको (एकही स्थानमें) छोड़ देते हैं। इससे जलके साथ जैसे जल मिल जाता है वैसे ही शिष्य भी मानो गुरुके साथ मिलता है, यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है। फिर आचार्य्य अपने दाहिने हाथसे शिष्यका दाहिना हाथ पकड़ता है। शिष्य समझता है (अर्थात ऐसा समझना सीखता है) कि उसका हाथ (जगत्प्रसविता) सूर्य, (स्वास्थ्यसाधनकारी) अश्विनीकुमार एवं (पोषणकारी) पूषणदेवताने ही अपने हाथमें लिया है। ऐसी दशामें आचार्य्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्यविधायक एवं पोषणकारी है, यह बोध होगा। फिर आचार्य कहता है कि—"अग्नि, सविता एवं अर्यमा (पितृदेव)—इन्होंने पहले ही हस्तधारण कर तुमको ग्रहण किया है। अग्निदेव ही तुम्हारे आचार्य हैं, तुम मेरे अतिप्रियकारी मित्र हो। इस समय तुम सूर्यके आवर्त्तनके अनुरूप मेरा परिवर्त्तन (प्रदक्षिणा) करते रहो"।

शिष्य जब आचार्यकी प्रदक्षिणा कर आकर उपस्थित होता है तब आचार्य उसकी नाभि (जीवमर्मस्थान) का स्पर्श कर कहता है कि—'हेनाभि! तू विस्रष्ट न होना, स्थिर रहना। हे अन्तक! इस ब्रह्मचारीको मैंने तुम्हारे अर्पण किया, तुम को सौंपा। (नाभिके ऊपरी भागको छूकर) हे अभूरि (वायु)! (वामभागको छूकर) हे सूर्य्य! (वक्षःस्थलको छूकर) हे अग्नि! (दक्षिण अंगको छूकर) हे प्रजापति!-[इसी प्रकार प्रत्येकसे कहता है कि] यह मेरा मैं तुमको देता या सौंपता हूं, यह जरामरणादि किसी दोष को न प्राप्त हो"। फिर आचार्य्य कहता है कि—"तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकड़ी लाओगे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे [ऋग्वेदीय लोगोंके सम्बन्धमें और भी कई एक आचारघटित बातें हैं, जैसे मृत्तिकासे शौच करोगे-इत्यादि कई एक नित्यकर्म्मोंकी आज्ञा एवं जैसे

गुरुशुश्रूषा करोगे, दिनको शयन न करोगे-इत्यादि]। ब्रह्मचारीको इन सब प्रतिज्ञाओंके पालनका स्वीकार करना होता है।

तदनन्तर ब्रह्मचारी प्रकृतब्रह्मचारीका वेष धारण करता है। अंगोंके वलय आदि अलंकारोंका त्याग कर मंत्रपाठपूर्वक मेखलाधारण, यज्ञोपवीतधारण, अजिनधारण कर गायत्रीपाठको ग्रहण करता है। गायत्री-ग्रहणकी रीति यह है कि पहले तीनों व्याहृतियोंको छोड़ कर त्रिपदा गायत्रीके एक पदको पढ़े फिर द्वितीय पादके साथ तृतीय पादको और फिर प्रथम और द्वितीयके साथ तृतीय पादको पढ़ कर फिर अन्तमें तीनों व्याहृतियोंके साथ संयुक्त कर पढ़ना चाहिये। बालकोंको श्लोक आदि कण्ठस्थ करनेका ऐसा उत्कृष्ट और उपाय नहीं है। गायत्रीपाठके उपरान्त ब्रह्मचारी भिक्षा करें एवं भिक्षामें मिला पदार्थ गुरुको भेंट करें तदनन्तर गुरुकी अनुमति लेकर स्वयं भोजन करें। पूर्वकालमें इसी प्रणालीक्रमसे बहुकाल पर्यन्त गुरुगृहमें रहना और शास्त्र पढ़ना होता था। इस समय नगर आदिमें अँगरेज़ीशिक्षाकी अधिकतासे छात्रोंका गुरुगृहमें रहना एक प्रकार उठ ही गया है, ऐसा कहना ही उचित जान पड़ता है। किन्तु जिस २ पल्लीग्राममें चटसारका पढ़ना प्रचलित है उस २ स्थानमें गुरु और शिष्यका परस्पर सम्मिलन नहीं नष्ट हुआ है। वहाँ यथेष्ट गुरुभक्ति एवं शिष्यानुराग विद्यमानहै। अँगरेज़ी स्कूल, कालेजोंमें ही ये सब गुण एकान्त दुष्प्राप्य हो उठे हैं।

उल्लिखित संस्कारकार्य्योंके अभ्यन्तरमें कितने अशेष तात्पर्य निहित हैं सो विचार कर देखनेसे चमत्कृत होना होताहै। (१) गुरु एवं शिष्य-दोनोंने जलकी अंजली ली एवं परस्पर सम्मिलित होनेके लिये प्रार्थनापूर्वक दोनों जलाञ्जलियों को छोड़ दिया। जल जैसे जलमें मिलता है, गुरुशिष्यका सम्मिलन वैसा ही घनिष्ट करनेका उपदेश सूचित हुआ। (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकड़ कर जो भाव शिष्यके मनमें प्रकट किया उससे विदित होताहै कि उसीने जैसे शिष्यके जनकत्व, स्वास्थ्यविधायकत्व और पोषणका भार ग्रहण कर लिया। (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंका स्वीकार कर स्वयं अभिमानी नहीं हुआ; शिष्यके प्रकृत गुरु अग्निदेव हैं सो स्पष्टरूपसे कह दिया एवं शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र ही समझा। गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना उचित है [अर्थात् (क) सम्मिलनप्रवण अर्थात् मिलनसार (ख) पिताके अनुरूप एवं (ग) निरभिमान मित्रभावापन्न] सो संस्कारके प्रथम भागमें बता दिया गया है। तदनन्तर शिष्य का कर्त्तव्यजो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहनाहै सो तत्पश्चात्

सूर्यके आवर्त्तनके अनुकरण द्वारा प्रकाशित हुआ। और भी प्रकाशित हुआ कि शिष्य जैसे सूर्यके स्थानापन्न (सूर्यका एक नाम 'वेदोदय' भी है) है वैसेही गुरु भी सूर्यके आवर्त्तनीय स्वयं विश्वमूर्त्ति (परमेश्वर) का रूप है। उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनमें प्रवृत्त होकर (क) नाभिदेशमें यमको (ख) नाभिके ऊर्द्ध्वभागमें वायुको (ग) वामभागमें हृत्पिण्डस्थानमें सूर्य्यको (घ) मध्यभागमें वक्षःस्थलमें अग्निको एवं (ङ) दक्षिणभागमें प्रजापतिको स्थापित किया अर्थात् शिष्यके देहमें ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ; ऐसा होनेसे ही संस्कार पूर्ण हो गया। इस समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ एवं उसने शास्त्रोक्त ब्रह्मचारी वेष धारण किया एवं ब्रह्मचारीके शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मोंके साधनमें प्रवृत्त हुआ।

वेदमें कुछ एक उपनिषद् वाक्योंको महावाक्य कहा है। यथा-सर्वंखल्विदम्ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहम्ब्रह्मास्मि। किन्तु इन सबकी अपेक्षा भी महत्तर एवं सूक्ष्मतर तथ्यव्यञ्जक एक वाक्य यह है कि–"सर्वंसर्वात्मकम्"। यह महावाक्य ही सर्व्वश्रेष्ठ उपनयनसंस्कारकी भित्ति है। यह द्विजातिके क्षुद्रशिशुको विश्वरूप बना देता है, अपनेमें उसी विश्वरूपका ध्यान और धारणा मिलाकर उसीसे समस्त-तपस्याप्रणालीका आविष्कार करता है एवं सोऽहंज्ञानके सम्यक् अनुभवद्वारा अभिमानको मिटाकर जीवकी मुक्तिके साधनका मार्ग दिखा देता है।

(३) समावर्तन। इस समय गुरुकुलवास नहीं है। गुरुके निकट रह कर शास्त्रपढ़नेकी पूर्वरीति नहीं है। उसी पूर्वरीतिके क्रमसे कई वर्ष तक गुरुके निकट रहकर शास्त्र-शिक्षा प्राप्त करने पर गुरुगृहसे अपने घर आनेके पहले गृहस्थधर्म-पालनके उपयुक्त गुणावलीका स्मरणस्वरूप समावर्तन संस्कार करना होता था किन्तु अब वह उपनयनके ही दिन हो जाता है। उसकी प्रणाली यह है-नान्दीमुखश्राद्ध एवं अग्निस्थापन व हवनकरके अग्निसे कहाजाता है कि--"हे अग्नि! उपनयनके समय मैंने तुम्हारी अनुकूलतामें (अर्थात् तुमको साक्षी करके) जिस व्रतको करनेके लिये कहा था वह समाप्त होगया और मुझको अध्ययनलक्षणरूप समृद्धि एवं सत्यस्वरूपता प्राप्त हुई"। वायुदेवता प्रजापति देवता आदिसे भी यों ही कहा जाता है। [२] आचार्यके समीप सुगन्धयुक्त जलकी अञ्जलि भर कर कहा जाता है कि--"जलमें अनुप्रविष्ट गोह्य, उपगोह्य, मरुक, मनोहा, खल, विरुज, तनुदूषि आदि इन कुलदूषणों अथवा शरीरदूषणों * सब दोषोंको मैंने

---

* गोह्य, उपगोह्य आदि आठ प्रकारके अग्निपदवाच्य जलके दोष आयुर्वेदोक्त नीचे उद्धृत आठ दोषोंके आध्यात्मिकरूप भी होसक्ते हैं–

त्यागदिया । जल मेरे स्नानके योग्य हुआ [३] जलके घोर क्रूर अशान्त दोषों * को भी मैंने त्यागदिया [४] उसमें जो रुचिकारी एवं दीप्तिकारी अग्नि है † उसे ही ग्रहण करलिया एवं उसके द्वारा आत्माको अभिषिक्त किया । उससे यश, तेज, ब्रह्मवर्चस्, बल, इन्द्रियसामर्थ्य, दृढ़ता, अन्नादि, धनसमृद्धि, कान्ति एवं सम्मान मिलेगा । [५] हे अश्विनीकुमार! तुमने जिसकर्मके द्वारा अपुण्यानाम स्त्रीकी हिंसा की है एवं जिसके द्वारा सुराको खण्डित किया है और जिसके द्वारा अक्षक्रीड़ाको परित्याज्य किया है एवं जिस शोभन कर्मके द्वारा इस महती पृथ्वीको अभिषिञ्चित किया है उसी पवित्र यशका भागी बना कर हमको अभिषिक्त करो ।"

तदनन्तर ब्रह्मचारी खड़ा होकर सूर्यके प्रति कहता है—

"उदीयमान आदित्यदेव अतिशय दीप्यमान देवगणके साथ [एवं प्रातःगत, मध्यान्हागत तथा सायंकालागत इन्द्रादि देवतोंके साथ] अवस्थितिकरें। वे जैसे [दशजनके, शतजनके, सहस्रजनके] भरणकर्त्ता हैं वैसेही हमको भी [दश जनका, शतजनका, सहस्रजनका] भरणकर्त्ता बनावें । हम आदित्यके निकट अर्घ्यरूपसे प्राप्त होते हैं, वह अभिमत फल देनेके द्वारा हमारे अनुकूल हों । हे सूर्य! हमारे पापरूप अनिष्टको हमसे छुड़ाइये । आप त्रैलोक्यचक्षु हैं, प्रत्येक व्यक्तिकी दर्शनशक्ति भी आप ही हैं । चन्द्र, औषधि एवं ब्राह्मणोंका राजा है,

कीटमूत्रपुरीषान्न शवकोत्थप्रदूषितम् ।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम् ॥

* घोर, क्रूर एवं अशान्त दोषका तात्पर्य गुरुत्व कफजनकता एवं व्यापारसामान्य आयुर्वेदोक्त दोषोंका अध्यात्मरूप भी हो सक्ता है ।

† आयुर्वेदके मतमें उत्कृष्ट जलका लक्षण यह है—

निर्गन्धमव्यक्तरसंतृष्णाघ्नं शुचि शीतलम् ।
स्वच्छं लघुच हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ॥

वेदविद्याविशारद श्रीयुक्त सत्यव्रती सामश्रमी महाशयके निकट गोह्यादि शब्दोंका अर्थ पूछने पर सामश्रमीमहाशयने वेदभेदसे पाठभेदादिका उद्धरण कर भावप्रकाश और चरकमें उक्त निम्नलिखित जलदोषको गोह्यादिपदवाच्य बताया था—

"महादोषकरान्यष्टाविमानितुविशेषतः ।
उच्चैर्भाषंरथक्षोभमतिचङ्क्रमणाशने ॥
अजीर्णाहितभोज्येच दिवास्वप्नञ्चमैथुनम् ।"
"हीनातिमिथ्यायोगेन विद्यतेतत्पुनस्त्रिधा" ॥

उसे आप वर्द्धित करते हैं । हम आपको नमस्कार करते हैं, कभी हमारे प्रति प्रतिकूल न होना, यही प्रार्थना है" ।

इसके उपरान्त मंत्रपाठपूर्व्वक मेखलामोचन कर ब्राह्मणभोजन कराकर सुन्दर यज्ञोपवीत, माल्य, उपानह एवं बाँसका दण्ड धारण करना होता है ।

फिर परिषद्सहित आचार्यको देखकर जो मंत्र पढ़ा जाता है उसका तात्पर्य यह है—

"सर्वलोकवल्लभ यक्ष [पूज्य] के समान मैं तुम्हारे नेत्रोंका प्यारा बनूँ —••• हे जिह्वे! कभी कुछ न भूलना, मुझसे सर्वदा सोहावने वचन कहलाना । तू ओष्ठ-द्वारा आवृत एवं नकुली [चञ्चलस्वभाववाली] है; तू दन्तद्वारा परिमित न रहनेसे कभी २ वज्रतुल्य हो जाती है" ।

ब्रह्मचारी आचार्यद्वारा अभ्यर्थनाको प्राप्त होकर रथ पर चढ़ सब कृत्योंको सम्पन्न कर अपने गृहको जाता है ।

गृहस्थको विशेष यत्नके साथ जलशोधन करना होता है । स्वास्थ्यरक्षाके लिये इसका विशेष प्रयोजन है । दूषितजलका व्यवहार एकान्त परित्याज्य है । पवित्रजलका व्यवहार गृहस्थका एक प्रधान पुण्यलक्षण है । दुष्टा स्त्री और सुरा एवं अक्षक्रीड़ाआदि व्यसन भी गृहस्थधर्म्मके लिये अत्यन्त व्याघात पहुँचानेवाले हैं और अनेकोंका पोषण एवं जगत्के सुख और शान्तिके बढ़ानेकी चेष्टा ही गृहस्थका उच्चधर्म है । इन सब तथ्योंको सम्यक् समझ कर गृहस्थको स्वयं लोकरञ्जनशील, सत्यवादी, प्रियभाषी, एवं मितभाषी होनेके लिये सचेष्ट रहना चाहिये । कैसे संक्षेपमें गृहस्थधर्मकी सब सार बातें समावर्त्तन संस्कारके मध्यमें सुन्दररूपसे विन्यस्त की हुई हैं !

कर्णवेध । उपनयन संस्कारके साथ जो चूड़ाकरण एवं समावर्त्तनका संमिश्रण होगया है सो दिखाया गया । इनके अतिरिक्त उपनयनके साथ और भी एक व्यापारका विसदृश संयोगकर दिया गया है । इस व्यापारका नाम है कर्णवेध । इस समय इस बंगदेशमें उपनयनसंस्कारके उल्लेखमें अर्थात् आरम्भमें नान्दीमुख श्राद्ध कर पहले चूड़ाकरण किया जाता है, फिर नापितके द्वारा जिस बालकका यज्ञोपवीत होगा उसका कर्णवेध कराकर फिर उपनयन कृत्य किया जाता है । कर्णवेध करनेसे जो क्षताशौचके कारण उपनयन संस्कारमें विघ्न होता है उसका कुछ विचार नहीं किया जाता । कहा जाता है कि संकल्प करके एकबार कार्या-

रम्भ करने पर फिर किसी अशौचके कारण आरम्भ किये कार्यकी क्षति नहीं होती । क्योंकि एक वचन है—

व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धेहोमेऽर्चनेजपे ।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धेतुसूतकम् ॥

अर्थात् व्रत, यज्ञ, विवाह, श्राद्ध, हवन, पूजन, जप—इन कार्योंका आरम्भ कर चुकने पर सूतक नहीं लगता, यदि आरंभ न किया गया हो तो सूतक लगता है ।

किन्तु उल्लिखित वचनका यह उद्देश्य नहीं है कि जान बूझ कर अपनी इच्छासे अशौच उत्पन्न करनेसे वह अशौच शास्त्रीयकर्मके करनेमें रुकावट न डालेगा ।

वास्तवमें क्या दक्षिण अञ्चलमें और क्या पश्चिम अञ्चलमें—कहीं यह कर्णवेध व्यापार उपनयनका अंग नहीं माना जाता । बंगदेशके भी मैमनसिंह आदि पूर्व अञ्चलमें उपनयनके समय कर्णवेध नहीं किया जाता । केवल बंग-देशके मध्यभागके ही कुछ ज़िलोंमें यह दूषित आचार प्रचलित होगया है ।

कर्णवेध कोई संस्कार ही नहीं है । कर्णवेधमें कोई भी मंत्र नहीं पढ़ा जाता । कर्णवेधकार्यके शास्त्रीयप्रमाणस्वरूप निम्नलिखित कई एक वचन प्राप्त होते हैं । यथा—

कर्णरन्ध्रेरवेश्छाया न विशेदग्रजन्मनः ।
तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्चपुरातनाः ॥

जिस ब्राह्मणके कानके छिद्रमें सूर्यबिम्बकी छाया नहीं प्रवेश करती उसे देखनेसे पूर्वसञ्चित पुण्यसमूह नष्ट हो जाते हैं ।

अंगुष्ठमात्रशुषिरौ कर्णौ न भवतो यदि ।
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं दत्तञ्चेदासुरं भवेत् ॥

अंगुष्ठमात्र जिसमें प्रवेश कर सके ऐसा छिद्र जिसके कानोंमें न हो उस ब्राह्मणको श्राद्धमें निमन्त्रण न देना चाहिये और यदि निमंत्रण दिया जाता है तो वह श्राद्ध "आसुर" हो जाता है ।

कोई २ अनार्यरीति भी आर्याचारमें प्रवेश पागई है—कर्णवेध व्यापार इसका एक दृष्टान्त माना जा सक्ता है । कानमें आभूषण धारण करनेके उद्देश्यसे ही कर्णवेधकी सृष्टि हुई है और पहाड़ी अनार्यलोगोंके अनुकरणसे ही कानका छिद्र इतना बड़ा करनेकी विधि बनाई गई है ।

जो हो, कर्णवेधकार्य्य उचितरूपसे किया जाय तो वह किसीप्रकारके पौष्टिककर्ममें गिना जा सक्ता है। अतएव जब शिशु एकसालका हो तभी कर्णवेध करके चूड़ाकरणको भी उसके तीसरे सालमें सम्पन्न कर सर्वश्रेष्ठसंस्कार उपनयनको अवसर पर निर्विघ्नरूपसे करना चाहिये। समावर्तन संस्कारका समय विवाहके कुछही दिन पहले निर्दिष्ट करनेसे ही अच्छा होता है।

नैमित्तिकाचार प्रकरण ।

पञ्चमअध्याय

संस्कारकर्म-यौवनसंस्कार ।

बाह्यविज्ञानशास्त्रका एक नियम यह है कि आकर्षणके प्रभावसे क्षुद्रवस्तु बड़ी वस्तुके समीप खिंच आती है। स्थूलजड़पदार्थसम्बन्धीय यह नियम मानसिक एवं आध्यात्मिक विषयमें भी समानभावसे लागू है। यह जिस संस्कारकार्यका विवरण लिखा जाता है, इसमें भी देखा जाता है कि मुख्य संस्कार उपनयनने अपने पूर्ववर्ती कालके गौणसंस्कार चूड़ाकरणको एवं परवर्त्तीकालके गौणसंस्कार समावर्त्तनसंस्कारको अपने निकट खींच लिया है।

ऐसा होनेसे विवाह ही यौवनावस्थाका एक मात्र संस्कार हो गया है। इस संस्कारमें चारों वर्ण एवं संकरजातीय लोगोंको भी अधिकार है।

किन्तु सब प्रकारके विवाह शास्त्रोक्त संस्कार नहीं कहे जासक्ते। मनुसंहितामें आठ प्रकारके विवाहोंका उल्लेख देखा जाता है। यथा—

ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच, इन आठप्रकारके विवाहों में आठवाँ अधम है।

उल्लिखित आठ प्रकारोंमेंसे आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच—इन चारमें शास्त्रीयसंस्कारका कोई लक्षण ही नहीं है। शास्त्रीयसंस्कारका लक्षण आर्ष, प्राजापत्य, दैव एवं ब्राह्मविवाहोंमें ही विद्यमान है एवं उनमें भी पूर्ण संस्कारलक्षणयुक्त एकमात्र ब्राह्म विवाह ही इस समय समस्तभारतवर्षमें आदरको प्राप्त एवं विवाहका आदर्श मानकर परिगृहीत है।

ब्राह्म आदि चार संस्कार साधक विवाहोंके लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट हुए हैं। यथा—

आच्छाद्य चार्च्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मोधर्मः प्रकीर्तितः ॥

कन्याको वस्त्र द्वारा आच्छादित एवं अलंकारादि द्वारा पूजित कर ज्ञानवान् एवं चरित्रवान् व्यक्तिको स्वयं बुलाकर देना ब्राह्मविवाह है।

यज्ञेतुविततेसम्यक् ऋत्विजेकर्मकुर्वते।
अलङ्कृत्यसुतादानं दैव धर्मं प्रचक्षते॥

भलीभांति यज्ञ होते समय कर्मकारी ऋत्विजको वस्त्रालङ्कारमण्डित कन्याका देना दैवविवाह है।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादायधर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षोधर्मः स उच्यते॥

वरसे धर्मपूर्वक एक या दो गोमिथुन लेकर [उसके साथ] कन्या देनेको आर्षविवाह कहते हैं।

सहोभौचरतां धर्ममिति वाचानुभाष्यच।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्योविधिः स्मृतः॥

तुम दोनों एक साथ मिलकर धर्माचरण करो—यों कहकर वस्त्रालंकारभूषित कन्याको पूजनपूर्वक देना प्राजापत्य विवाह है।

उल्लिखित चार प्रकारके अविशुद्ध विवाहोंकी रीति पूर्वकालमें रहनेपर भी कालक्रमसे उन सब विवाहोंकी रीतिका लोप होकर इस समय भारतवर्षमें ब्राह्मरीति ही प्रचलित है। यह रीति ब्राह्मणोंकी है, अतएव सब लोगोंको आदर्शरूपसे प्राप्त हुई है। भारतनिवासी आदिम लोगोंमें एवं मुसल्मान आदि आर्येतरधर्मावलम्बियोंमें एवं अनेकानेक अन्त्यजवर्णों एवं किसी २ प्रत्यन्तप्रदेशवासी लोगोंमें यद्यपि ब्राह्मविवाहकी रीति नहीं प्रचलित हुई तथापि साधारण रूपसे हिन्दूधर्मावलम्बी सभी लोगोंमें यहरीति पूर्णरूपसे प्रचलित है एवं अन्य-सब लोगोंमें (तुर्क आदिमें) भी आचारके आकारमें क्रमशः कुछ २ प्रवर्तित होती जाती है। ब्राह्मणोंमें तो सर्वत्र ब्राह्मविवाहकी रीति प्रचलित है। जहां ब्राह्मणोंमें वैश्य-शूद्रादि द्वारा परिगृहीत आसुरविवाहकी रीति (अर्थात् कन्याविक्रय की रीति) को कार्यतः ग्रहण किया है वहां भी बाहर ब्राह्मरीतिके अनुसार ही विवाहकार्य्य सम्पन्न किया जाता है।

संस्कारमात्रके साधारण अंग नान्दीमुख श्राद्ध एवं अधिवासके अतिरिक्त, ब्राह्म विवाहके तीन प्रधान अंग हैं—अर्हणा या पूजा, कन्यादान एवं पाणिग्रहण।

अर्हणा—। ब्राह्मविवाहमें जैसी भक्ति और आडम्बरके साथ वरके पूजन

की विधि है वही रीति यज्ञकारी प्रधान २ ऋत्विजोंके पूजनका भी है। शास्त्रीय वचन भी है—

आचार्यऋत्विक्स्नातकाराजाविवाह्यः प्रियातिथिश्चार्हणीयाः ।

जान पड़ताहै 'दैव'नामक विवाहप्रणालीसे ऋत्विक्को कन्या देनेकी जो व्यवस्था थी उसीने ब्राह्मविवाहके इस भागके अन्तर्निविष्ट होकर इसको और भी पुष्ट कर दिया है। केवल दैवरीति ही नहीं अनुप्रविष्ट हुई है आर्षविवाह की रीतिने भी कुछ २ ब्राह्मविवाहमें प्रवेश किया है। आर्षरीति यह है कि कन्याका पिता वरपक्ष से एक या दो गोमिथुन लेकर उसके साथ वरको कन्यादान करता है। ब्रह्मविवाहके अर्हणभागमें शास्त्रमें कथित है कि एक गऊको विवाहके स्थानमें बाँध रखना चाहिये। वर पूजाग्रहणपूर्वक विवाहमें व्रती होकर उस गऊको बंधनमुक्त करता है। अनुमान किया जा सक्ता है कि आर्षविवाह का गोमिथुन कन्याकी सम्पत्ति होता था एवं जामाता उसे लेजाता था। ब्राह्मविवाहके अन्तर्निविष्ट यह गोमोचनव्यापार उसी पूर्वकृत्यका ही स्मारक है एवं इसी लिये विवाहके मधुपर्कके देनेमें पशुका वध निषिद्ध होगया है। इस समय यह गोमोचनव्यापार बंगदेशसे एकदम उठ गया है। इससमय विवाह-स्थलमें उपस्थित नापित 'गो' शब्दके उच्चारणको भी यथार्थरूपसे नहीं जानता—वह "गौर" "गौर" कहकर चीत्कार करता है एवं मूर्ख श्रोतालोग उसे नवद्वीपसे आविर्भूत महाप्रभुके नामोच्चारणरूप मङ्गलध्वनि ही समझते हैं! फलतः ब्राह्म-विवाहमें राक्षसविवाह का लक्षण—ढेला मारना, आदि; गान्धर्वविवाह का लक्षण—शुभदृष्टि, स्त्रीआचार एवं वासरजागरण; आसुरविवाहका लक्षण—पितृ-पक्षसे कन्याके लिये आभूषण आदि लेनेकी चेष्टा (यदि होय तो); आर्षवि-वाहका लक्षण—नापितके मुखसे 'गौर' नाम का उच्चारण; एवं दैवविवाह का लक्षण—वरकी ऋत्विक्के समान पूजा—यह सब देखकर अत्यन्त विस्मित होना पड़ता है जगत्में क्या द्रव्य-पदार्थ और क्या भाव-पदार्थ किसीका भी विनाश नहीं है एवं भाव—समुद्भूत आचार व्यवहार आदिका भी विनाश नहीं होता, केवल परिवर्त्तन हो जाता है।

कन्यादान। अँगरेज़ी पढ़े कोई २ शिक्षित लोग समझते हैं कि मनुष्यसमा-जकी आदिम बर्बरदशामें स्त्रियाँ कुलपतिकी दासी समझी या गिनी जाती थीं अर्थात् कन्याएँ पिताकी दासी या सम्पत्ति थीं। इसीकारण विवाहकालमें पिताके

हाथों कन्याका दान होना आवश्यक हुआ था एवं इसीसे सभी देशोंमें कन्यादान विवाह का एक मुख्य अंग हो गया है। भारतवर्षके सम्बन्धमें यह विचार ठीक नहीं है, हमारा यह कथन नीचे लिखी बातसे ही प्रमाणित हो जायगा। हमारी प्राचीन मनुसंहिताके एक वचनका अर्थ यह है कि यदि पिता अथवा अन्य कोई अभिभावक वयःस्था (विवाह योग्य सयानी) कन्याके देनेमें ढिलाई या उपेक्षा करे तो कन्या अपनी इच्छासे स्वयं अपना दान कर सकती है। कन्या यदि दासीके समान किसीकी सम्पत्ति होती तो व्यवस्थाशास्त्रमें उसके लिये ऐसे स्वेच्छाचारकी आज्ञा कभी न होती। प्राचीन रोमनोंके मतमें कन्यासन्तान प्रकृत दासी ही थी; इसीकारण उनके यहाँ कन्या किसप्रकार स्वयम्वरा नहीं हो सकती थी। नव्य यूरोपियन् ग्रंथादिमें अनुमान किया गया है कि यह रोमन्पद्धति ही जगत्की साधारण प्रणाली है। हमारे नव्यसम्प्रदायके लोगोंने भी इसी मतको स्वीकार कर लिया है। मुसल्मान लोगोंमें दास-रखने की रीति खूब ही प्रबल है। किन्तु उनमें कन्यादानकी प्रथा नहीं प्रचलित है। अतएव यूरोपके समाजतत्त्ववेत्ता लोगोंकी विचारप्रणालीमें अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति-दोनों दोष हैं। वास्तवमें जब पिता पुत्र-कन्या आदिके प्रति जो अन्यथा आचरण करे तो शास्त्रके अनुसार उसे राजदंड होनेकी व्यवस्था है, तब भारतवर्षमें कन्याआदिके प्रति दासीभावका आरोप नितान्त भ्रमजनित है।

कन्यादानप्रथाका प्रकृत तात्पर्य स्त्रियोंके पूर्वकालके दासीभावका स्मारक नहीं है, वह स्त्रियोंकी स्वाभाविक लज्जाशीलता का एवं उसके कारण अस्वाधीनताका सूचक है एवं इसीकारण वह प्रायः सर्वत्र, यहांतक कि स्वेच्छाचारके मूर्त्तिमान् अवतारस्वरूप प्राचीन जर्मन्लोगोंमें भी विवाहव्यापारका एक अंग है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें ठीक पशुतुल्य नहीं होता। इसीलिये मानवसमाज मात्रमें ही स्त्रियाँ अपनेको पुरुषसृष्ट करनेमें लज्जा करती हैं। इसीसे अन्यलोग उनकी ओरसे उनको किसी पुरुषके हाथमें देते हैं। भारतवर्षमें सवर्णा स्त्रीके प्रति कभी दासीभावका आरोप नहीं होता—यह बात महाभारतके सभापर्वमें द्रौपदीके द्यूतपणव्यापारमें विचारित एवं मीमांसित हुई है। मनुसंहितामें भी सवर्णा स्त्रीके विवाहमेंही 'संस्कार' का उल्लेख देखा जाता है एवं कन्यादानव्यापार संस्कारकार्यका अंगीभूत है। अतएव कन्यादानप्रथाके प्रचलित होनेसे कन्याका दासीभाव नहीं समझना चाहिये। नव्यलोगोंके प्रबोधके लिये यह भी कहना है कि यूरोपियन् विवाहमें भी कन्यादानका एक अभिनय होता है।

किन्तु यूरोपका कन्यादान जैसा दानका अभिनयमात्र है, ब्राह्मविवाह-का कन्यादान वैसा अभिनयमात्र नहीं है। इस दानमें सामान्य द्रव्य—दानके जो २ लक्षण हैं वे सभी लक्षण पूर्णमात्रासे हैं। सामान्यदानकार्यके लक्षण ये हैं—

(१) दाताकी पवित्रता (२) देय द्रव्यका अर्पण (३) उसके नामका उल्लेख (४) देय द्रव्यके प्रति उत्सर्गबोधक जलत्याग या प्रोक्षण (५) लेनेवालेका उल्लेख (६) लेनेवालेका स्वीकार। ये सब दानके अंग कन्यादानमें विद्यमान हैं एवं सबके अन्तमें ग्रहण करनेवाला जैसे कामस्तुतिपाठपूर्वक अन्यान्यदानके ग्रहणमें स्वीकार करता है वैसे ही कन्यादानके ग्रहणमें भी स्वीकार करता है। विवाहकार्यमें 'कामस्तुति' शब्द सुननेसे वह जैसे कन्याका पत्नीरूपसे ग्रहण जान पड़ता है। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है—

"यह (प्राप्तद्रव्य) किसका है? किसने किसको दिया? कामने ही कामको दिया। काम ही दाता और काम ही ग्रहण करनेवाला है। काम समुद्रमें (सृष्टिके आदिमसृष्ट पदार्थमें) प्रविष्ट है। कामकी ही सहायतासे मैं ग्रहण करताहूँ। हे काम! यह (प्राप्तवस्तु) तुम्हारी ही है"।

स्पष्टही जान पड़ता है कि उल्लिखित स्तुति स्त्रीघटित सामान्य भौतिक कामकी स्तुति नहीं है। ब्रह्मके हृदयसे उत्पन्न सिसृक्षा (सृष्टिकरनेकी इच्छा) रूप जो काम आदिसृष्टवस्तु जलसे समुदाय सृष्टवस्तुओंमें अनुप्रविष्ट है एवं रजो-गुणका उद्रेक कराकर भेदबुद्धिके मूलस्वरूपसे एकको अनेक करनेवाला है वही काम स्वयं ग्रहण करनेवाला हुआ है—यह स्तुति उसी 'अनादिवासना' या आ-ध्यात्मिक कामकी है।

वर जब कामस्तुतिपाठ कर चुकता है तब कन्याका दान और ग्रहण समाप्त या सम्पन्न हो जाता है। दाताके स्वत्वका विलोप एवं ग्रहणकरनेवालेके स्वत्वका होना ही दानका लक्षण है। कन्या पर पिताका जो स्वत्व था वह नष्ट होगया। पिताका अधिकार कन्याके पालन, कन्याके शिक्षासम्पादन एवं कन्या-के श्रमके यथेच्छ विनियोगमें होता है। कन्याके ग्रहण करनेवालेका भी इन सब बातोंमें स्वत्व उत्पन्न हुआ। वह उसका पालन करेगा, उसको शिक्षा देगा एवं उसको अपने घरका काम काज करनेमें नियुक्त कर सकेगा। किन्तु इस कन्याके साथ पतिपत्नीव्यवहार करनेका कोई अधिकार यह दान नहीं देसका। उसके लिये एक और अनुष्ठानका प्रयोजन होता है एवं उसी अनुष्ठान का नाम है पाणिग्रहण।

पाणिग्रहण——इस अनुष्ठानके अनेक अंग-प्रत्यङ्ग हैं। उनका उल्लेख करने से आर्यलोगोंकी प्राचीन रीति नीति बहुत कुछ जानी जा सकती है एवं विवाह-संस्कारकी भी सब सार बातें प्रकट होती हैं, इसीलिये संक्षेपसे यहांपर उनका वर्णन करेंगे।

पहले यथायोग्य स्थानपर शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निस्थापन कर एक जन एक कलश जल और एकजन एक प्रतोद लिये रहेगा। एक सूपमें चार अंजली खील एवं शमीपत्र मिश्रित रहेगा एवं एक खजूरके पत्तोंकी चटाई प्रस्तुत रहेगी एवं एक सिल और एक लोढ़ा (बट्टा) रक्खा जायगा। फिर एक सधवा भाग्यवती स्त्रीके द्वारा भलीभांति कन्या का संमार्जन और स्नान कराकर वर उसे नवीन धौत शुभ्र सदश दो सूक्ष्मवस्त्र (साड़ी एवं उत्तरीय) पहनावैगा। वस्त्रधारणके समय वर स्नेह और समादरसहित जिन मंत्रोंको पढ़ेगा उनका तात्पर्य यह है——

(१) इस वस्त्रको प्रस्तुत करनेवाली देवियां * जरावस्थापर्यन्त सानन्द चित्तसे तुमको वस्त्र पहनावैं। हे आयुष्मति ! तुम वस्त्रधारण करो।

(२) हे वस्त्र पहनानेवाली देवियो ! तुम आशीर्वाद देकर इस कन्याकी आयु बढ़ाओ। हे आर्य्ये ! तुम तेजस्विनी होकर शतवर्ष तक जीवित रहो एवं सब ऐश्वर्य्योंका भोग करो।

इस प्रकार कन्याके प्रति स्नेह, शुभाकांक्षा एवं सम्मान दिखाकर वर मन ही मन जिस मंत्रको पढ़ता है उसका यह तात्पर्य है।

(३) चन्द्रने यह कन्या गन्धर्वको दी थी, गन्धर्वने अग्निको दी थी, अग्निने मुझको दी, मैं इससे धन और पुत्र भी पाऊंगा। †

---

* अधिष्ठाताकी कल्पनाकरना मनुष्यकी बुद्धिवृत्तिकी प्रकृति एवं शास्त्रकी सुस्पष्ट रीति है।

† इस समय इस गृह्यसूत्रोक्त मंत्रके तात्पर्य्यग्रहणके सम्बन्धमें कुछ मतभेद होगया है, इस लिये जिस एक पौराणिक श्लोकमें इसका अभिप्राय प्रकाशित हुआ है वह नीचे काशीखण्डसे उद्धृत कियाजाता है।

कन्यांभुङ्क्ते रजःकाले ऽग्निःशशीलोमदर्शने।
स्तनोद्भेदेतुगन्धर्वस्तस्मात्प्रागेव प्रदीयते॥

रजः कालमें अग्नि (अभिलाषारूपसे) लोमदर्शनके समयमें चन्द्र (सौन्दर्यरूपसे), स्तनोद्भेदके समय गन्धर्व (सुस्वर एवं गतिवैचित्र्यरूपसे) कन्याका भोग करते हैं। इसीकारण इन सब घटनाओंके प्रथम ही कन्यादान करना चाहिये।

इस स्थलपर स्नेहसम्पन्न वरके हृदयमें जैसे कन्याके रूपका उदय हो उठता है एवं सांसारिकधर्मपालनके अवश्य होनेवाले समस्त शुभ फलोंका अनुभव होता है। इस समयमें कन्या खजूरके पत्तोंसे प्रस्तुत चटाईको पैरसे घिसतीहुई घसीट लावे। उस समय उसके पढ़े या उसकी ओरसे वरके पढ़े मंत्रका अर्थ यह है—

(४) मेरा पति मेरे लिये वह मार्ग प्रस्तुत करे जिस कल्याणमय निर्विघ्न मार्गद्वारा मैं पतिलोक (अर्थात् ऐहलौकिक और पारलौकिक पतिके स्थान) को पाऊं।

फिर कन्या और वर दोनों एक ही चटाई पर बैठेंगे एवं वर कन्याके दक्षिण स्कन्ध पर हाथ धरेगा एवं वर अग्निमें छः आज्याहुति छोड़ेगा अर्थात् दोनों ही आहुतिप्रदानरूप एक ही धार्मिककार्य्य करेंगे। सुतराम् स्त्री-पुरुषको एकसाथ मिलकर धर्माचरण करनेका प्राजापत्यबिवाहमें उपदेशमात्र था, ब्राह्मणबिवाहमें कार्यद्वारा वह सम्पन्न भी होगया। अतएव अन्यान्य प्रकारके बिवाहोंके समान प्राजापत्यप्रणाली भी ब्राह्मबिवाहके अन्तर्निविष्ट है।

आज्याहुति छोड़नेके मंत्रोंका अर्थ यह है—

(१) देवतोंमें श्रेष्ठ अग्नि यहां आगमन करें। वह इस कन्याके भविष्यत् सन्तानोंको मृत्युभयसे मुक्त रक्खें एवं राजा करें (आवरण देवता) ऐसी अनुमति करें कि यह स्त्री पुत्रसम्बन्धीय व्यसन (कष्ट) से पीड़ित न हो।

(२) गार्हपत्य अग्नि इसकी रक्षा करते रहें, इसके पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहें, यह जीवितपुत्रवती होकर पतिके साथ निवास करे एवं सत्पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करे।

(३) हे कन्ये ! द्युलोक तेरे पृष्ठप्रदेशकी रक्षा करे, वायु और अश्विनीकुमार तेरी दोनों ऊरुओंकी रक्षा करें, तेरे दुग्ध पीनेवाले पुत्रोंकी सूर्यदेव रक्षा करें, तेरे वस्त्रावृत शरीरभागकी बृहस्पतिजी रक्षा करें एवं पादाग्रप्रभृति शरीरभागकी विश्वेदेवानामक देवगण रक्षा करें।

वैवाहिकविधि कैसे परिष्कार कवित्वके ऊपर संस्थापित हुई है। सर्वोत्तम आर्यशास्त्र ही ऐसा है कि जैसे एक ओर दार्शनिक मतवादके साथ सर्वतोभावसे सुसंगत ध्यान, पूजा, नीति एवं अनुष्ठानप्रणालीकी स्थापना करता है वैसे ही दूसरी ओर कविहृदयोत्थित सुकुमारभावुकता को भी सांसारिक कार्यकलापकी भित्ति करनेमें प्रवृत्त होसक्ता है। कवित्वके मूलमें झूठ रहता है, यह भाव आर्यसम्मानित नहीं है।

(४) हेकन्ये! रात्रिके समय तेरे गृहमें रोनेका शब्द न हो। तेरे शत्रुगणके गृहोंमें उनकी स्त्रियाँ रोती हुई प्रवेश करें। तुम रोदनद्वारा अन्तःपुरवासियोंको पीड़ित करनेके अवसरको न पाओ। तुम सधवा रह कर हर्षपूर्वक पुत्रादिकोंके साथ पतिके घरमें सुखसे रहो।

(५) अन्ध्यात्व, मृतवत्सात्व आदि मृत्युपाशरूप दोषोंको, तुम्हारे मस्तक-से, माला जैसे उतारकर फेंक दी जाती है, वैसे ही उतारकर मैंने शत्रुओंके प्रति फेंक दिया।

(६) मृत्यु विमुख होकर गमन करें। अमरभाव निकटस्थ रहे। हेमृत्यु! प्रेतलोकके मार्गको लक्ष्य कर तू विमुख हो। मैं तेरे निकट उत्कृष्ट दृष्टिशक्ति एवं श्रवणशक्तिसे युक्त सन्तानोंको चाहता हूँ। जिस सद्योजात शिशुकी दृष्टिशक्ति और श्रवणशक्ति सबल होगी उसका मस्तिष्कभी सतेज होगा-यह बात स्वतःसिद्ध है। तू मेरे पुत्र आदिकी हिंसा न करना।

उल्लिखित छः आहुतियाँ दे चुकने पर कन्या सिलके ऊपर एक पैर धर-कर अंजलीमें खीलैं लेगी एवं वर उससे कहेगा—

(१) इस शिलाखण्ड पर आरोहण करो। तुम इस शिलाके समान दृढ़ एवं अविचल रहो। शत्रुको पीड़ित करो एवं कभी शत्रुके द्वारा पीड़ा न पाओ।

(२) यह स्त्री अग्निमें खीलैं डाल कर कहती है कि मेरा पति चिरजीवी हो, शतवर्ष तक जीवित रहे एवं मेरे सजातीय बढ़ें।

(३) इस कन्याने अर्यमा एवं पूषा नामक अग्निदेवका अवश्य पूजन किया है। अग्निदेवताने यह कन्या पितृकुलसे अलग कर स्थिररूपसे मुझको दी है।

(४) यह कन्या पिता माता आदिको छोड़कर पतिगृहमें आगमनपूर्वक पतिके उपदेशको सुनती है। हे कन्ये! हम सब एकत्र होकर जलधारासमूहके समान बलवान्, वेगवान् एवं परस्पर अभिवभावयुक्त रहकर शत्रुओंको उद्विग्न करेंगे।

लाजाहुति समाप्त होनेपर सप्तपदीगमन होता है। पति एक २ वाक्य कहता है और कन्या एक २ बार पदनिक्षेप करती है। वे वाक्य ये हैं।

(१) हेकन्ये! विष्णुने अन्नलाभके लिये एकपद (२) बललाभके लिये द्वितीय पद (३) पञ्चमहायज्ञादि नित्यकार्यके लिये तृतीय पद (४)सौख्यके लिये चतुर्थ पद (५) पशुलाभके लिये पंचम पद (६) धनरत्नाके लिये षष्ठ पद (७) एवं ऋत्विक्-लाभके लिये सप्तमपदका अति क्रमण कराया।

स्वामीके साथ सप्तपदगमनकारिणी (सात फेरे फिरनेवाली) स्त्री विष्णुदेवकर्तृक यावज्जीवनके लिये स्वामीके समस्तकर्तव्योंमें सहायता करनेवाली हुई । इससे पुत्र उत्पन्न होनेकी भी प्रार्थना होगई । अतएव दोनोंका पति पत्नी-सम्बन्ध दृढ़बद्ध होगया * ।

किन्तु पति पत्नीभावको स्थापित या सम्बद्ध करके ही आर्यशास्त्र नहीं निश्चिन्त हुआ । इस भावसे परस्परके प्रति जो सब अवश्यकर्तव्य विषय उपस्थित होते हैं उनको स्थूलरूपसे बतानेमें प्रवृत्त हुआ है ।

(१) हे सप्तपदगमन करनेवाली कन्या ! तू मेरी सहचारिणी हुई, मैं तेरा सखा हुआ । हमारा सुदृढ़ संस्थापित यह सख्य (स्नेह) विच्छेदकारिणियोंके द्वारा विच्छिन्न न हो, वरन् हितैषियोंके सत् उपदेश द्वारा क्रमशः परिवर्द्धित होता रहे ।

(२) हे देखनेवाले लोगो ! तुम सब इस अग्निके समीप आकर इस वधूको कल्याणकारिणी रूपसे देख कर आशीर्वचन द्वारा सौभाग्यवती बनाकर गमन करो ।

इस समय विवाहका सब सामाजिक कार्य सम्यक् प्रकारसे सम्पन्न हो गया ; किन्तु पतिका कर्तव्य है कि स्त्रीके साथ एकीभूत होकर उसको सुशिक्षा

* (१) एक आसन पर बैठा कर एक पात्रमे स्त्री पुरुष दोनोंके भोजन करनेसे ही ब्रह्मदेशीय बौद्ध लोग उनके पतिपत्नीभाव को स्वीकृत करते हैं । एक नींबू या किसी अन्यफलको काटकर उसका आधाभाग पति, पत्नीके मुखमें एवं अन्य अर्द्ध भाग पत्नी, पतिके मुखमें देकर खिला देती है तब चीन और जापानके बौद्धलोग उनका विवाह होना स्वीकृत करते हैं ।

(२) मुसल्मानोंमें भी एक आसन पर बैठकर एकपात्र से पति और पत्नी परस्पर एक दूसरेको खानेकी सामग्री खिलाते हैं और तभी विवाहकार्य सम्पन्न समझा जाता है । किन्तु मुसल्मानोंमें कन्याकी स्वीकृति ही विवाहका मूलमंत्र है अर्थात् मुख्य है ।

(३) खीष्टानोंमें भी स्वीकृति एवं पुरोहितका मंत्र पढ़ना एवं परस्पर मुखचुम्बन – इन्हींके द्वारा वैवाहिकसम्बन्धका प्रकाश होता है । अतएव स्त्रीपुरुषका परस्पर उच्छिष्टभोजनरूप एक अति क्षुद्र व्यापार बौद्ध, मुसल्मान एवं खीष्टानोंके विवाहोंका प्रधान अंग है ।

(४) ब्राह्मविवाहमें मंत्रादिपाठ एवं कन्यादानके अतिरिक्त एक आसन पर बैठकर दोनोंका एक धर्मकार्य करना एवं एक साथ सन्तानकी कामना एवं यावज्जीवन परस्पर सहायता करनेके अनुरूप कर्म का अभिनय – इन सबके द्वारा वैवाहिक सम्बन्ध अवधारित होता है । सुतराम् ब्राह्मविवाहमें जो स्त्री – पुरुषका एकीकरण है सो एकधर्मतासाधन, एकलक्ष्यतास्थापन एवं एक प्रज्ञाकी प्रतिष्ठा द्वारा सम्पादित होता है ।

देना एवं उसके जो कुछ दोष हों उन सबको मिटाना। उसी कार्यकी सूचना देता हुआ पति कहता है—

(१) विश्वेदेवानामक देवगण एवं जलदेवता हम दोनोंके हृदयको पवित्र करें, वायुदेवता हम दोनोंके हृदयको पवित्रकरें। विधाता हम दोनोंके हृदयको पवित्र करें—स्वभावतः सत् उपदेश देनेवाली भद्र महिलाएँ हम दोनोंके हृदयको एक बनावें।

(२) हे कन्ये! अर्यमा, भग, सविता आदि पुररक्षक इन सूर्यदेवने साक्षी-रूपसे रहकर तुमको मुझे दिया है। तुम सब गृहकार्योंका सम्पादन करोगी। 'मैं जीवन भर तुम्हारा पालन करूंगा, तुमको सुखी रखनेकी चेष्टा करता रहूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ।

(३) हे कन्ये! तुम अशुभदृष्टिवाली एवं पतिघातिनी न होकर पशु आदिका पालन करना। तुम सहृदया, तेजस्विनी, जीवित पुत्र जननेवाली, पञ्चयज्ञके अनुकूल एवं सुख देनेवाली बनोगी। पूर्णरूपसे हमारा कल्याण करने वाली एवं द्विपद और चतुष्पद—सबके लिये शुभरूपिणी बनोगी।

* * * * *

(६) हे कन्ये! तुम ससुर, सास, ननद और देवर सबकी सम्राज्ञी [अर्थात् सम्यक् प्रकारसे रंजन—मनोरञ्जन करनेवाली] बनो।

(७) हे कन्ये! अपना हृदय मेरे काममें लगाओ। अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो। तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनकी सेवा करो। बृहस्पति (बृहत् मन रूपी देव) तुमको मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें।

(८, ९, १०, ११, १२, १३) हे कन्ये! तुम्हारे शरीरके रोमसमूहकी सन्धियों-में, मस्तकमें, पलकोंमें, नासिकाके रन्ध्रमें, केशोंमें, देखनेमें, रोनेमें, स्वभावमें, बोलनेमें, हँसनेमें, दाँतोंके बीचमें, दाँतोंमें, दोनों हाथोंमें, दोनों पैरोंमें, दोनों ऊरुओंमें, जनन इन्द्रियमें, दोनों जाँघोंमें, अन्यान्य प्रदेशोंमें एवं समस्त शरीरमें जो कोई दोष हो तो उसे मैंने पूर्णाहुति और आज्याहुति देकर शान्त कर दिया [इसका तात्पर्य यह है कि स्वामीको स्त्रीके दोषोंके शोधनेका अधिकार है। स्त्रीमें यदि कोई विशेष त्रुटि रहती है तो वह स्वामीके ही दोषसे रह जाती है। इन श्लोकोंमें यही तथ्य निहित है]।

(१४) जिस प्रकार द्युलोक, भूलोक एवं दृश्यमान चराचरात्मक समस्त जगत् तथा पर्वत आदि ध्रुव (स्थिर) हैं, वैसे ही यह स्त्री भी पतिकुलमें स्थिर हो।

(१५) हेवधू ! अबद्धरूपपाश और मणितुल्य प्राण सूत्रके द्वारा एवं सत्यरूप ग्रंथि द्वारा मैं तुम्हारे हृदय और मनको बाँधता हूँ ।

(१६) हेवधू ! तुम्हारा हृदय मेरा हृदय हो एवं मेरा हृदय तुम्हारा हृदय हो ।

इसके उपरान्त पति और पत्नी रथ पर चढ़ कर दोनों अपने घरको जाते हैं एवं जानेके पहले इस प्रकारकी प्रार्थना करते हैं—

(१) राहमें दस्युगण उनका जाना न जान सकें ।

(२) वर-वधूयुक्त गृहमें गऊ, घोड़े और पुत्र उत्पन्न हों एवं सहस्र दक्षिणा वाला यज्ञ जिस देवताके प्रसादसे सम्पन्न होता है वह आदित्य देव प्रसन्न हों ।

(३) हेवधू ! इस गृहमें तुमको धैर्य हो, आत्मीयजनोंके साथ मिलना हो, इस गृहमें रति हो एवं विशेष कर मुझमें धृति, मिलन और रति हो ।

पतिको पत्नीके साथ और पत्नीको पतिके साथ सर्वतोभावसे मिलाने एवं दोनोंको एक बनानेके लिये आर्यशास्त्रने जैसी चेष्टा की है वैसी और किसी देश का कोई शास्त्र नहीं करसका । "ततो विराडजायत"—इस वेदवाक्यकी व्याख्या करतेहुए मनुजीने कहा है—

द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराडमसृजत् प्रभुः ॥

प्रभु (ब्रह्मा) ने अपने शरीरके दो खण्ड कर आधेसे पुरुष और आधेसे स्त्रीकी सृष्टि कर विराट् पुरुषको उत्पन्न किया ।

अतएव विवाह संस्कारके द्वारा पहिले विभाजित दो खंड फिरसे एक किये जाते हैं । यजुर्वेदीय पाणिग्रहणका एक मंत्र यह है—

"मैं लक्ष्मीहीन हूँ, तुम लक्ष्मी हो, बिना तुम्हारे मैं शून्य हूँ । तुम मेरी लक्ष्मी हो । मैं सामवेद हूँ, तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो । हम दोनों मिलनेसे ही पूर्ण हैं ।

इस गंभीरतम भावकी छाया यहूदीलोगोंके शास्त्रमें भी पड़ीहै एवं उसी शास्त्रसे मुसल्मानों एवं ख्रीष्टानोंने भी कुछ २ पाई है । वे सब कहते हैं कि "आदिम (आदम) पुरुषके शरीरसे स्त्रीशरीरकी उत्पत्ति हुई है । अतएव वैवाहिक सम्बन्धबन्धनसे स्त्री-पुरुष फिरसे एक होते हैं-इस भावका आभास उनके भी वैवाहिक अनुष्ठानमें पाया जाता है । किन्तु उनका एक करनेका व्यापार परस्परके

उच्छिष्टभोजन और जैसे कोई सौदा चुकाया जाता है वैसे स्वीकारवाक्य पर निर्भर है । सुतरां कहना पड़ता है कि वह संस्कारमूलक नहीं है इसी कारण वह वैसा सुदृढ़ एवं चिरस्थायी भी नहीं होता । आर्योंका वैवाहिक एकीकरण यथार्थ एकीकरण है । इसके द्वारा जो संयोग होता है वह फिर कभी विच्छिन्न होनेका नहीं है । न इस जन्ममें और न उस जन्ममें । पृथ्वीके और किसी देशमें वैवाहिकबन्धन वैसा दृढ़, दूरगत एवं पवित्रभी नहीं होता । इसीकारण इस देशमें शास्त्र, पण्डित एवं कविलोग एकस्वरसे कहते हैं कि—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ (मनु)
दक्षा प्रजावती साध्वी प्रियवाक् च वशम्वदा ।
गुणैरमीभिः संयुक्ता सा श्री स्त्रीरूपधारिणी ॥
(काशीखंड)

जिस घरमें नित्य पति पत्नीसे और पत्नी पतिसे सन्तुष्ट रहती है-वहाँ अवश्य ही कल्याण होता है । चतुर, पुत्रवती, सीधी, प्रियवचन बोलनेवाली और वशवर्त्तिनी-इन गुणोंसे सम्पन्न स्त्री वास्तवमें लक्ष्मीका ही अवतार है ।

इसी कारण भारतवर्षके कविश्रेष्ठकी आदर्शनारी सीताके सम्बन्धमें श्रीरामचन्द्रजीकी यह उक्ति है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी ।
धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री ॥
स्नेहेषु माता शयनेषु रामा ।
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे ॥

हे लक्ष्मण ! वह मेरी प्रिया कार्यमें मन्त्री (सलाह देनेवाली), कार्य करनेमें दासी, धर्ममें पत्नी, क्षमामें धरती, स्नेहमें माता और शयन पर रामा (रमानेवाली) एवं रसरंगमें सखी है ।

नैमित्तिकाचार प्रकरण ।

—:0:—

षष्ठ अध्याय ।

श्राद्धकृत्य ।

संस्कारकार्यके विवरणके समय देखा गया है कि एक प्रकारका श्राद्धकृत्य (नान्दीमुख) संस्कार कार्यका अंग है। किन्तु अधिकांश स्थलोंमें श्राद्ध स्वयं एक मुख्यकर्म है, वह अन्य किसी कर्मका अङ्गमात्र नहीं है। पार्वणश्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, इष्टिश्राद्ध, अष्टकाश्राद्ध आदि सब श्राद्धकृत्य ऐसे ही हैं। इन सब श्राद्धोंमें भी वैदिकमन्त्रादिका बहुप्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वपुरुषोंकी पूजा जिनमें होती है वे सभी श्राद्धकृत्य अत्यन्त प्राचीन अनुष्ठान कह कर निर्द्धारित हैं।

किन्तु श्राद्ध चाहे संस्कारकार्यके अङ्गीभूत हो अथवा स्वतन्त्र मुख्य कृत्य हों एवं वैदिकमन्त्रादिके द्वारा अनुष्ठित तथा वेदप्रतिपादित यज्ञादिके बीच प्राचीनतम कह कर गिने जाते हों, उनका आपातदृष्ट साधारणभाव एवं संस्कारकर्मोंका साधारणभाव अत्यन्त भिन्न ही जान पड़ता है। संस्कारकार्यमें जगत ब्रह्माण्डके प्रति समष्टि भावसे दृष्टि होकर मुख्यरूपसे उसके एक होनेकी प्रतीतिका अभ्यास होता है। श्राद्धकृत्यमें जगत् ब्रह्माण्डके प्रति व्यष्टि भावसे दृष्टि होकर मुख्यरूपसे उसमें विभिन्न शक्तियोंका समावेश प्रतीत होता है। संस्कार-प्रवर्तित उपासनामें शुद्ध अद्वैत-बोधकी प्रतीति उपजती है। श्राद्धकृत्यमें जगत्में निहित समस्त शक्ति, विभिन्न देवताओंके आकारमें प्रतीयमान होकर अद्वैतका उपादान जो पृथक्त्व (अलगाव) है उसका सन्धान कर देती है।

वास्तवमें श्राद्धकर्म विभिन्न व्यक्तियोंके विभिन्न पुरुषोंका पूजनरूप अनुष्ठान है। सुतराम् इसमें भेदभाव का स्थल अतीव प्रशस्त है। इसी लिये श्राद्धकृत्यमें समष्टीभूत विश्व अर्थात् ब्रह्मके प्रति साक्षात् लक्ष्य गुणीभूत है एवं व्यष्टीभूत विश्व अर्थात् विश्वदेवानामक गणके प्रति लक्ष्य अधिक परिस्फुट है। विश्वदेवानामक देवताओंके नाम सुननेसे ही जान पड़ता है कि वे जगत्में निहित बाह्य और आभ्यन्तरिक द्रव्य शक्ति एवं क्रियाशक्ति आदिके ही अधिष्ठातारूपसे परिकल्पित हैं। श्राद्धके सम्बन्धमें इनका साधारण अधिकार रहने पर भी ये दश भागमें बँट कर पञ्चयुग्मकरूपसे अवस्थित हैं। यथा—

वसुसत्यौ, क्रतुदक्षौ, कामकालौ, धुरिलोचनौ,

पुरूरवामाद्रवाश्च विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः ॥

धन और सत्य, यज्ञ और दक्ष (ता), समय एवं इच्छा, भारग्राहिता एवं परिणामदृष्टि (दूरदर्शिता), स्थलजात और जलजात सब पदार्थसमूह—येही विश्वेदेवा नामसे प्रसिद्ध हैं ।

इन पञ्चयुग्मोंके अधिष्ठानभूत पाँच प्रकारके विशेष २ श्राद्धकृत्य भी निर्दिष्ट हैं । जैसे—

इष्टिश्राद्धे क्रतुर्दक्षौ सत्योनान्दीमुखेवसुः ।

नैमित्तिके कामकालौ काम्येच धुरिलोचनौ ॥

पुरूरवा माद्रवाश्च पार्वणे समुदाहृतौ ।

इष्टिश्राद्धमें क्रतु एवं दक्षका, नांदीमुखश्राद्धमें वसु और सत्यका, नैमित्तिक श्राद्धमें काम एवं कालका, काम्यश्राद्धमें धुरि और लोचनका तथा पार्वणश्राद्धमें पुरूरवा और माद्रवसका विशेष अधिकार कहा गया है ।

विश्वेदेवागणके आवाहनमंत्रमें भी उनका शक्तिस्वरूप होना स्पष्टरूपसे प्रकाशित है । यथा—

आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः ।

ये यत्र विहिता श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते ॥

महाभाग और महाबली विश्वेदेवागण यहाँ पधारें और श्राद्धमें जिस स्थल पर जिनका विधान है वे वहाँ सावधानताके साथ अवस्थित हों ।

विश्वेदेवागण श्राद्धकी अधिष्ठात्री शक्तियोंका समूह हैं । श्राद्धकृत्यमें साधारणतः 'करण'रूपसे ही इनका आवाहन और पूजन होता है ; ये श्राद्धकृत्यमें सर्वप्रधानरूपसे पूजनयोग्य नहीं हैं । श्राद्धका प्रधानतम उद्देश्य हैं पितृगण । उनकी वसु, रुद्र और आदित्यरूपसे पूजा होती है । उनका ध्यान यों किया जाता है—

प्रसन्नवदनाः सौम्या वरदाः शक्तिपाणयः ।

पद्मासनस्थाः द्विभुजाः वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥

प्रसन्नवदन, सौम्यस्वरूप, वर-दानके लिये उद्यतभावसे अवस्थित, हाथमें शक्ति लिये, पद्मासन पर आसीन और द्विभुज ; आठ वसु कहेगये हैं ।

करे त्रिशूलिनो वामे दक्षिणे चाक्षमालिनः ।

एकादश प्रकर्त्तव्या रुद्रास्त्र्यक्षेन्दुमौलयः ॥

वाम करमें त्रिशूल और दाहिने हाथमें अक्षमाला धारण किये, वृद्धचूड़, त्रिलोचन ; ग्यारह रुद्र हैं ।

> पद्मासनस्था द्विभुजाः पद्मगर्भाङ्गकान्तयः ।
> करादिस्कन्धपर्यन्त नालपङ्कजधारिणः ॥
> इन्द्राद्याद्वादशादित्यास्तेजोमण्डलमध्यगाः ॥

पद्मासनस्थित, द्विभुज, पद्मगर्भसदृश अरुणवर्णशरीरकान्तिविशिष्ट, करसे स्कन्धपर्यन्त लंबा सनाल कमलकुसुम लिये सूर्यमण्डलमध्यवर्ती इन्द्र आदि द्वादश आदित्य हैं ।

ये इकतीस श्राद्ध-देवता सपत्नीक हैं । इन्हीके अन्तर्निविष्टरूपसे इनकी पत्नियोंका ध्यान किया जाता है । और मानवदेहधारी पूर्वपुरुष भी ऊर्द्धगतिको पाकर इन्हीं देवताओंके रूपको प्राप्त होते हैं । पिताका वसुरूपसे और पितामह का रुद्ररूपसे एवं प्रपितामह आदिका आदित्यरूपसे ध्यान करना चाहिये ।

पितृगणका स्थान चन्द्रमण्डलके ऊर्द्धभागमें है । इसी कारण हमारा एक महीना पितृलोकका एक दिन है । हम लोगोंकी अमावास्या पितृलोकका मध्यान्ह है एवं इसी कारण अमावास्या तिथि ही पितृगणको भोजन देनेका अर्थात् श्राद्ध करनेका मुख्यकाल कह कर निर्दिष्ट हुई है ।

श्राद्धके कारणरूपसे अधिष्ठाता विश्वेदेवागण एवं श्य पूजापात्र पितृगण के अतिरिक्त और भी कई एक देवताओं का पूजन कियाजाता है ; यथा—(१) वास्तुपुरुष अर्थात् जिस घरमें श्राद्ध होता है उसका अधिष्ठाता देवता (२) यज्ञेश्वर अर्थात् यज्ञमात्रके अधिष्ठाता नारायणदेव (३) भूस्वामी पितृगण अर्थात् जिस भूमिमें श्राद्ध होता है उस भूमिके स्वामीके पितृपुरुषरूप देव (४) सगंगदेश अर्थात् गंगागर्भजात देशमें गंगादेवी—इन देवतोंमेंसे प्रत्येककी पूजा कर एक २ को भोजनसामग्री दी जाती है ।

इन अनुष्ठानोंके उपरान्त श्राद्ध करनेकी आज्ञा लेकर प्रकृत श्राद्धकार्यका आरंभ होता है । इस कार्यका मुख्य उद्देश्य मृत पूर्वपुरुषोंके उद्देशसे भोजन देना है । मृत व्यक्तिको भोजन देनेका कार्य प्रतिनिधिग्रहण द्वारा ही सम्पन्न होसक्ता है । अतएव श्राद्धमें पूर्वपुरुषोंके प्रतिनिधिका ग्रहण ही सर्वप्रधान अनुष्ठान है ।

पूर्वसमयमें विद्वान्, सच्चरित्र, आचारसे पवित्र ब्राह्मणोंको पूर्वपुरुषोंके प्रतिनिधिस्वरूपसे निमन्त्रण दिया जाता था। इस समय वैसे ब्राह्मणोंका प्रायः अभाव समझ कर श्राद्धकृत्यमें साक्षात प्रतिभूरूपसे प्राय, ब्राह्मणोंको निमन्त्रण नहीं दिया जाता। कुशके द्वारा दर्भमय ब्राह्मण बनाकर उसीको पितृपुरुषोंका प्रतिनिधि मान लिया जाता है। उसी कुशवटुको आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय एवं भोजनादि दिया जाता है एवं उसीसे मौनपूर्वक भोजन करनेके लिये कहा जाता है।

हमारे विचारसे सब प्रकारके श्राद्धमें एवं सब स्थानोंमें तथा सभी अवस्थाओंमें कुशवटुका नियोग शास्त्रसम्मतकार्य नहीं है। पूर्वसमयमें ब्राह्मणलोग बहुत ही अच्छे थे, इस समय वैसे उत्तम नहीं हैं—इसका स्वीकार करने पर भी यह नहीं माना जा सक्ता कि केवल कुशवटुके ही नियोगद्वारा श्राद्धकार्य सम्पन्न होसक्ता है। जब साक्षात् इष्टदेवताका स्वरूप समझकर अनेकानेक ब्राह्मणोंसे दीक्षा ली जाती है, जब मन्त्री और हितैषी एवं स्मार्तकर्मोंके सम्पादनमें सक्षम समझकर सुबहुसंख्यक ब्राह्मणोंको पुरोहित बनाया जाता है, जब धर्मव्यवस्था लेकर ब्राह्मण पण्डितोंके मतके अनुसार प्रायश्चित्त आदि सब कर्मकाण्ड किये जाते हैं तब ऐसा नहीं समझा जासक्ता कि पूर्वपुरुषोंके प्रतिनिधि होनेके योग्य ब्राह्मणोंका एकान्त अभाव होगया है। विशेषकर शास्त्रमें श्राद्धमें जैसे ब्राह्मणों का होना प्रशंसनीय लिखा गया है उसका विचार कर देखनेसे ऐसा नहीं समझ पड़ता कि बिना अद्भुतगुण सम्पन्न हुए कोई श्राद्धका ब्राह्मण नहीं होसक्ता। शास्त्र कहता है—

सम्बन्धिनस्तथासर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तथा।
भागिनेयं विशेषेण तथाबन्धून्गृहाधिपान्॥

सब सम्बन्धी (कुटुम्बी), विशेषकर दौहित्र, भगिनीपति, भागिनेय तथा गृह स्वामीके बन्धुवर्ग—श्राद्धमें भोजनका निमन्त्रण देनेके लिये येही प्रशस्त हैं।

श्राद्धके ब्राह्मणके निर्वाचनमें गुणशालिताकी विशेष अधिकताके प्रति दृष्टि अनावश्यक है—यह बात और भी स्पष्टरूपसे दिखलाई गई है। यथा:—

यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते।
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत्॥

निकट रहनेवाले [अथवा आगत] ब्राह्मणको (यदि वह पतित न हो) छोड़कर जो मूर्ख दूर रहनेवाले गुणी ब्राह्मणको निमन्त्रण देकर भोजन कराता है वह नरकगामी होता है ।

उल्लिखित दोनों वचनोंका तात्पर्य यही है कि निज कुटुम्बी एवं प्रतिवेशी ब्राह्मणको ही श्राद्धमें निमन्त्रण देना चाहिये । इस कार्यमें अतिशय गुणसम्पन्न ब्राह्मणका वैसा प्रयोजन नहीं है । कुटुम्बी और अपतित प्रतिवेशी ब्राह्मणके न मिलने पर कुशबटु रखकर श्राद्ध करनेकी व्यवस्था है-

ब्राह्मणानामसम्पत्तौ कृत्वा दर्भमयान् द्विजान् ।
श्राद्धं कृत्वा विधानेन पश्चाद्विप्रेषु दापयेत् ॥

ब्राह्मणोंके न मिलनेपर कुशबटु द्वारा श्राद्ध सम्पन्न कर सब सामग्री ब्राह्मणको देदेनी चाहिये ।

हमारी समझमें ऐसा करना ही भला है। सब स्थलोंमें कुशबटुका व्यवहार शास्त्र और युक्ति दोनोंसे असिद्ध है, एवं पढ़नेके ऐसे विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण नहीं हैं, ऐसा समझना भी अयथार्थ एवं हानिकारी है ।

पूर्वकालमें ब्राह्मणोंके मुखसे अग्नि निकलता था, वे तपोबलसे अत्यन्त प्रबल थे, जो चाहते थे वह कर सकते थे, इन सब बातोंके यथार्थभावको बिना समझे जो लोग निपट मुग्धके समान इस समयके ब्राह्मणोंको तुच्छ कहते और समझते हैं वे समाजबन्धनकी बड़ी ही हानि करते हैं-इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । जो कुछ मिथ्या है वही अनिष्टकारी है। पूर्वसमयके ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें जो सब अत्युक्तियां प्रचलित हो गई हैं, उनके अक्षरार्थमें विश्वास भी मिथ्याविश्वास है, अतएव हानिकारी है ! उस समय उत्तम ब्राह्मणोंकी संख्या अधिक थी, इस समय कम होगई है,-यहाँतक समझनेसे ठीक होता है इससे अधिक कुछ कहने या करनेसे ही भूल होती है। जिस स्वजातिविद्वेषसे आर्यसमाज जर्जरित है-श्राद्धपात्रका अन्नदेनेमें सजीवब्राह्मणका एकान्त त्याग उसीका एक उदाहरणमात्र है ।

यदि स्वजातिविद्वेषको छोड़कर यथार्थ शास्त्रीय व्यवहारके अनुयायी होकर श्राद्धमें उपयुक्त ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दिया जाय एवं मंत्रादिपाठपूर्वक यथोचितरूपसे उनको भोजन कराया जाय तो निमन्त्रित व्यक्तियोंको कैसी भक्ति और यत्नके साथ भोजन कराना चाहिये एवं कैसी सतर्कताके साथ द्रव्य आदि पवित्र रक्खे जाते हैं-इसका एक आदर्श प्राप्त हो जाय ।

किन्तु यह होने पर भी किसी एक ब्राह्मणको मन्त्र पढ़ कर भोजन देनेसे श्राद्धकर्त्ताके पूर्वपुरुष तृप्त हो जाते हैं–यह विश्वास सहजमें नहीं होता। किन्तु जहां यह विश्वास रहता है वहीं श्राद्ध हो सक्ता है, अन्यत्र नहीं हो सक्ता। श्राद्ध का अर्थहै श्रद्धापूर्वक दान। श्रद्धाका अर्थहै विश्वास। अतएव यदि शास्त्रके वाक्यमें विश्वास हो कि निमन्त्रित ब्राह्मणको भोजन करानेसे ही श्राद्धकर्त्ताके पूर्वपुरुष तृप्त होंगे तभी श्राद्धकृत्य सम्पन्न हो सक्ता है।

किन्तु शास्त्र ही बिना किसी युक्तिके ऐसी बात क्यों कहेगा ? अनुमान होता है कि शास्त्रकी सम्मति यों है–आत्माका विनाश नहीं है, सुतराम् देहके भस्म हो जानेसे आत्मामें अधिष्ठित पितृदेवताकी तृप्तिग्रहण शक्ति नहीं नष्ट होती एवं विश्वब्रह्माण्डमें जो सर्वकी सर्वात्मकताका स्वीकार हुआ है उसीसे अभीष्टब्राह्मणभोजनके द्वारा पूर्वपुरुषोंकी तृप्ति सिद्ध होती है।

इस स्थल पर एक यथार्थ बात कहते हैं। किसी व्यक्तिने एक बालक पर दया कर उसे अन्न वस्त्र देकर उसका पालन किया एव यत्नपूर्वक पुत्रके समान शिक्षा दी। भाग्यबलसे वह बालक एक बहुत बड़ा कृती पुरुष होगया। किन्तु किसी समयमें किसी अन्याय आचरणके कारण वह उस अपने पहलेके उपकारी के अनुरागसे वंचित होगया। अपने उपकारीकी विरक्तिसे उसे बड़ा ही खेद हुआ एवं वह "कैसे उस पूर्वोपकारीका ऋण चुकाऊं" इस विचारसे बहुतही चिन्तित हुआ। ऐसे समयमें एक परम ज्ञानी पुरुषसे उसकी भेंट हो गई एवं बातो २ में उसने उसके आगे अपने मनकी बात व्यक्त कर दी। ज्ञानी पुरुषने कहा–"जिन्होंने तुम्हारा उपकार किया है वह भी बड़े सौभाग्यशाली पुरुष हैं। वह यदि किसी दुर्दशामें पड़ जायँ तो तुम उनका उद्धार कर सक्ते हो एवं तुम्हारा ऋण चुक सक्ता है, किन्तु ऐसी इच्छा करनेमें भी पाप है, अतएव तुम प्रतिनिधि-ग्रहणरूप अन्तिम उपायका अवलम्बन करो अर्थात् तुम लड़कपनमें जैसे दीन हीन थे वैसेही किसी दीन हीनको खोज निकालो एवं किसीने तुमको जैसे यत्न और स्नेहके साथ पाला था वैसे ही तुम भी उसे पालो। ऐसा होनेसे ही तुम्हारा कृतज्ञताप्रदर्शन हो जायगा एवं जहाँ तक तुम्हारे ऋणका परिशोध होना आवश्यक है वहां तक वह भी हो जायगा। सभी उसी एककी विभिन्न २ मूर्तियाँ हैं, उससे विभिन्न कुछ नहीं है।"

"सभी उस एककी विभिन्न २ मूर्तियाँ हैं"–अर्थात् "सर्वं सर्वात्मकम्"। सुतराम् देखा गया कि समष्टिज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान आर्यशास्त्रके कलेवरकी

अस्थिके समान है। श्राद्धकृत्यके बाह्यभागमें पूर्णावयससे प्रकट न होने पर भी श्राद्धकृत्यके अभ्यन्तरमें प्रतिनिधिग्रहणकी व्यवस्थाके साथ वही एकत्व-बोध पूर्णमात्रासे विराजमान है।

अन्य जिन २ जातियोंमें पितृपुरुषोंके स्मरणके उद्देश्यसे श्राद्धके अनुरूप कोई कृत्य वर्तमान है उनमेंसे किसीमें भी यह उच्चतम भाव नहीं देख पड़ता। खीष्टधर्मावलम्बी, विशेषकर कैथलिक सम्प्रदायके लोग अपने पिता, माता, भ्राता, पत्नी, पति एवं पुत्र कन्या आदिके समाधिस्थानमें जाते हैं एवं गोर या समाधिके ऊपर फूल बर्साते हैं एवं शोक करते हैं तथा ईश्वरके निकट अथवा साधुओंके निकट मृत व्यक्तियोंके लिये अक्षय स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। किन्तु यह कार्य पूर्णरूपसे उनके धर्मशास्त्रका उपदेश नहीं है, वे जो कुछ करतेहैं सो स्वतःप्रवृत्त होकर ही करते हैं।

मुसल्मानोंमें मृत व्यक्तिकी समाधिके समीप ईश्वरसे प्रार्थना करना एवं कुरान पढ़ना अत्यन्त सत्कार्य कहकर प्रशंसित है एवं ऐसा करना मृत व्यक्तिकी भी सत् गतिके लिये सहायक समझा जाता है। इसी भावके आधार पर मुसल्मानों के जगद्विख्यात भवनोंकी कीर्त्तिराशि संस्थापित है।

बौद्धलोगोंमें (चीन, जापान एवं ब्रह्मा आदि देशोंमें) अत्यन्त अधिकताके साथ श्राद्धकृत्य किया जाता है। उनमें आद्यश्राद्ध, नवमासिक श्राद्ध एवं वार्षिक श्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध प्रचलित हैं एवं उनमें भूरिदान, गाना-बजाना-नाचना और विलाप तथा कीर्तन आदि यथेष्टरूपसे किया जाता है। बौद्धदेशमें पितृपुरुषोंके नाम पर स्थापित भवनोंकी कीर्त्तिका अभाव नहीं है। किन्तु बौद्ध-जातीय लोगोंमें कोई भी अन्य किसीको मृत व्यक्तिका प्रतिनिधि नहीं कल्पित करता। वे जो कुछ वस्त्र, भोजन आदि देते हैं सो 'साक्षात् पितृपुरुषके जीवात्माको ही देते हैं'-ऐसा समझ कर देतेहैं; जैसे वही मृत व्यक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है और वह जैसे कोई आज्ञा या उपदेश देगा,—श्राद्धकर्त्ताको अपने मुख व नेत्रोंकी ऐसी ही भावभंगी कर अत्यन्त नम्र और प्रयत रहना होता है।

आर्योंका ही शास्त्र ऐसा है जो सब ओर न्यायसङ्गत होकर चलता है! इसी में 'सर्वसर्वात्मकम्" यह महावाक्य है। सुतराम् इसीमें प्रतिनिधिस्वीकारका मार्ग सुविस्तृत है। यही श्राद्धकृत्यमें पितृपुरुषोंको परोक्ष अधिष्ठान देनेमें समर्थ है; यहां पितृगणको देवतारूपी कर निमन्त्रित ब्राह्मणके शरीरमें स्थापित कर सक्ता है।

श्राद्धकृत्यके मंत्रोंमें बहुत्वके साथ एकत्वका संमिश्रण देखा जाता है अथवा एकत्वके ऊपर बहुत्वका आवरणमात्र एवं अन्तर्भागमें एकत्वका बीज स्पष्टरूपसे देखा जाता है।

श्राद्धकृत्योंमें प्रधानतम पार्वणश्राद्धके कुछ मंत्रोंका भावार्थ लिखा जाता है।

(१) गायत्री—इसका तात्पर्य अन्य प्रकरणमें कहा गया है।

(२) "देवताभ्यः" इत्यादि—यह मंत्र अनेक बार पढ़ा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि-देवता, पितृगण, सब महायोगी, स्वधा (पितृपत्नी) एवं स्वाहा (अग्निपत्नी) को मेरा नमस्कार है, मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे घर नित्य ही ऐसे कर्मों (पितृपुरुषोंको तृप्त करने) का अनुष्ठान हो।

(३) "मधुवाता" इत्यादि—यह मंत्र भी अनेक बार पढ़ा जाता है। इसका तात्पर्य यह है-समस्त ऋतुगण और वायुगण मधुमय हों, नदियाँ मधुवाहिनी हों, ओषधियाँ मधुफल देनेवाली हों, रजनी मधुरूप हो, प्रातःकाल मधुयुक्त हो, पृथ्वी की धूल भी मधुमय हो, आकाश मधुमय हो, पिता मधुयुक्त हो, सूर्य मधुमय हो एवं सब गौवें मधुमती हों [समस्त विश्वब्रह्माण्ड पितृपुरुष की तृप्तिका साधन हो सुतराम् हम भी सन्तुष्टचित्त रहें]।

(४) "अग्निदग्धा" इत्यादि। इसका अर्थ यह है—जो अग्निमें जलकर मर गये हैं अथवा जिनका दाहसत्कार नहीं हुआ; वे भूमि में दिये इस पिण्डसे तृप्त हों एवं तृप्त होकर परमगति पावें।

(५) "येषां न माता" इत्यादि। इसका अर्थ यह है—जिनके पिता, माता एवं बन्धुवर्ग व अन्नदाता कोई नहीं वर्त्तमान है एवं जिनको अन्न नहीं मिलता—पृथ्वीमें दिया गया यह पिण्ड उनको तृप्त कर सुखमय लोकमें ले जाय।

(६) "वाजेवाजे"—इत्यादि। अर्थात् विप्रमूर्त्तिधारी एवं अमृत देहको प्राप्त [विग्रह, एवं विग्रहसूचित देवशरीर अथवा ज्ञानमय वस्तु, दोनोंके ज्ञान बिना पूजा नहीं होती] पितृगण इस दिये हुए अन्नकी रक्षा करें एवं जिस २ समयमें अन्न परिकल्पित होता है उस २ समयमें अन्नकी रक्षा करें और हमारे धनादि द्रव्योंकी भी रक्षा करें एवं इस अन्नसम्बन्धीय मधुको पा कर तृप्त हों एवं देवगण जिस मार्गके द्वारा जाते हैं उसी मार्गसे गमन करें।

(७) "आमावाजस्य"—इत्यादि। अर्थात् श्राद्धमें दिये अन्नका फल हम को बार बार प्राप्त हो, ये द्यावापृथिवी विश्वरूप हमको बार बार प्राप्त हों

एवं पिता माता हमको प्राप्त हों एवं पितृगणके राजा सोमदेव हमको मुक्ति देनेके लिये प्राप्त हों ।

(८) "पृथिवी ते पात्रम्"-इत्यादि । अर्थात् विश्वाधार पृथिवी तुम्हारा पात्र है एवं आकाश तुम्हारा आच्छादन है, तुम अमृतस्वरूप हो, अमृतस्वरूप ब्राह्मणमुखमें तुम्हारा हवन करता हूं [ब्राह्मणमें विराट्रूप देखनेकी विधि इससे सूचित हुई] ।

(९) "इदं विष्णुर्विचक्रमे"-इत्यादि-अर्थात् विष्णुने तीन बार पैर पसारा था । उससे पृथिवीकी धूल भी उनके चरणोंका स्पर्श पा कर विशुद्ध हो गई है (सुतराम् उसी पार्थिवअंशसे उत्पन्न) यह भक्ष्य हवि भी विशुद्ध है ।

(१०) "या दिव्या आपः"-इत्यादि-अर्थात् जो स्वर्गीय अन्तरिक्ष-सम्भूत सलिलसमूह क्षीर (दूध) के साथ सङ्गत हुआ है (शैत्य, माधुर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न हुआ है) वही जल कल्याणदायक एवं आनन्दप्रद होकर ब्राह्मणोंके हाथों पुरस्कृत होर ।

(११) "तिलोऽसि"-इत्यादि । तुम तिल कह कर विख्यात हो । सोमदेव तुम्हारे देवता हैं । तुम अपने दाताको स्वर्गमें पहुंचाते हो । तुम हमारे पितरोंको चिरकाल तक स्वधा (ब्रह्माकी मानसीकन्या पितृपत्नी) द्वारा प्रसन्न करो ।

(१२) "यवोऽसि"-इत्यादि । अर्थात् तुम यव कह कर प्रसिद्ध हो, तुम हमारे कृत्रिम शत्रुवर्गके भेदविधायक हो कर सहज शत्रुवर्गकी संहति (मेल) को न्यून करो, हम स्वर्गगमनके लिये, आकाशगतिके लिये, पृथ्वीलाभके लिये तुम्हारी उपासना करते हैं । पितृसदनगत लोग शुद्धि-लाभ करें । हे यव ! तुम पितृगणका आश्रय हो ।

(१३) "शन्नोदेवी"-इत्यादि । यह जल हमको कल्याणदायक हो एवं अभीष्टसिद्धि तथा कल्याणसाधनके लिये सम्मुखवर्त्ती हो ।

(१४) "दातारो"-इत्यादि । अर्थात् हमारे दातालोग बढ़ें, हमारे ज्ञान, स्तुति एवं शास्त्र-विश्वास नष्ट न हों, हमारे यहां देय वस्तु एवं अन्न बहुत हों, हमको अतिथि मिलें, हमारे निकट बहुत लोग याचना करें, हम किसी के निकट कुछ न मांगें, अन्न बहुत बढ़े एवं दाताजनोंकी सौ वर्षकी आयु हो ।

जिनके उद्देशसे ये आस्तरण (प्रतिभूरूपसे) कल्पित हुए हैं उनको अक्षय तृप्ति हो, ये सब आशीर्वाद सत्य हों एवं पितृवर प्रसन्न हों ।

(१५) " महावामदेवा "-इत्यादि । महावामदेव ऋषि वक्ता हैं, विराट्-गायत्री छन्द है, इन्द्र देवता हैं और शान्ति कर्मके जपके लिये इस मन्त्रका विनियोग है । विचित्र इन्द्रदेव किस तृप्तिसाधनके द्वारा सब समय हमारी वृद्धि करनेवाले एवं सखा होंगे, एवं किस अतिशयकृत कर्मके द्वारा सब समय हमारे पिता एवं सहायक होंगे ? हे इन्द्र ! सोमरूप अन्नके मदजनक हविमें अत्यन्त मदजनक कौन अंश तुमको मत्त करता है ? जिस अंशके द्वारा मत्त होकर तुम दृढ़ वस्तु अर्थात् सुवर्णादि देते हो ? हे इन्द्र ! हमारे मित्र, स्तुति (प्रशंसा) करनेवाले और ऋत्विक् वर्गके पालनके लिये तुम शतरूप धारण करते हो । बहुश्रवा (बड़े यशस्वी) इन्द्र हमारा अधिकाधिक मङ्गल करें । अनुपहत गरुड़ एवं वृहस्पति हमारे मङ्गलको पुष्ट करें ।

(१६) " पिताधर्म "-इत्यादि । अर्थात् पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही परमतप है, पिताके सन्तुष्ट होनेसे सभी देवता सन्तुष्ट होते हैं ।

यद्यपि श्राद्धकृत्य आर्य्य धर्ममें एक अति उच्च स्थानको ग्रहण किये है तथापि वह आर्य धर्मका एक अंशमात्र है । वह पितृभक्तिके अनुशीलनसे उत्पन्न है । इस श्राद्धकृत्यका सारांश पितृभक्ति, अन्यान्य धर्मप्रणालीमें किस भावसे उपस्थित है सो एक बार देख लेना बुरा न होगा ।

(१) पितृभक्तिके सम्बन्धमें चीना लोगोंका मत, आर्यशास्त्रके श्राद्धविधानके साथ पूर्णरूपसे मिलता हुआ है ; यदि दोनोंको एक ही कहें तो भी हो-सक्ता है । श्राद्धपद्धतिमें पितरोंको प्रणाम करनेके मन्त्रमें जो २ कुछ कहा गया है, चीनालोगोंका धर्मशास्त्र भी वही वही कहता है—" पितृभक्तिको हृदयमें स्थापित करते ही वह पृथ्वीसे स्वर्ग पर्यन्त समस्त आकाशमें परिव्याप्त होती है, उससे चारों सागरोंसे घिरा हुआ सम्पूर्ण पृथ्वीतल आच्छादित होता है । पितृ-भक्ति, पुरुषपरम्परासे बराबर प्रवाहित रहने पर अनन्तकालके लिये वश्यभावकी, सुतराम् समस्त धर्मभावकी भित्ति हो जाती है । "

(२) एकमात्र पितृभक्तिसे ही सांसारिक समस्त धर्मोंके सूत्र धरे जा सक्ते हैं । जान पड़ता है इस बातको खीष्ट धर्म चलानेवाले ईसामसीह भी मानते थे । ऐसा न होता तो वह परमेश्वरको बार २ " पिता " कह कर पुका-

रने की शिक्षा न देते। अतएव खीष्टके मतमें भी पितृभक्ति ईश्वर-भक्तिके प्रतिरूपस्वरूपसे अथवा ईश्वरभक्तिको सीखनेके सोपान-स्वरूपसे ग्राह्य होनेके योग्य है।

(३) आजकल एक सम्प्रदायके यूरोपियन् पण्डितोंकी दृष्टिमें हिन्दूधर्म चाहे जो हो, किन्तु हिन्दुओंका त्याज्यपुत्र बौद्धधर्म्म ही नीतिविषयमें सर्वश्रेष्ठ है। उस धर्ममें पितृभक्तिका स्थान अपेक्षाकृत नीचे है। बुद्धदेवने अपने पिताके भी दीक्षागुरु होकर उनका साष्टाङ्गप्रणाम ग्रहण किया था—इस आख्यायिकाके द्वारा उनके जगद्गुरु होनेकी घोषणा करनेमें बुद्धधर्मने पितृभक्तिके गौरवको कुछ कम कर डाला है। बौद्धलोग दयाको ही सब धर्मोंकी भित्ति समझते हैं।

(४) मुसल्मान धर्ममें भी पितृभक्तिका स्थान उच्च नहीं है। कुरान भरमें देख लीजिये, कहीं एक स्थान पर भी ईश्वरके प्रति "पिता" का सम्बोधन या पितृभाव नहीं व्यक्त होता। यद्यपि पैगम्बर साहबकी स्त्रियोंके प्रति मातृभाव व्यक्त करना सब मुसल्मानोंका परम कर्त्तव्य कहा गया है तथापि पैगम्बर साहबको साक्षात् "पिता" कहनेका स्पष्ट अक्षरोंमें निषेध है। मुसल्मान लोग उनके शास्त्रमें उल्लिखित ईश्वरेच्छाके ऊपर सम्पूर्ण आस्थावान् होकर रहना ही सीखे हैं—वे ईश्वरके एकान्त प्रभुभाव एवं अपने एकान्त वश्यभावमें ही मग्न हैं।

(५) आर्यधर्ममें भी जो लोग क्रमविकास का लक्षण देखनेके लिये यत्नशील एवं शेष विकासका आदर करनेके ही लिये उन्मुख हैं वे सुन पाते हैं कि समस्त पुराण, स्मृति एवं तन्त्रशास्त्रादिमें पूर्णरूपसे अभिज्ञ होकर भी नवद्वीपमें आविर्भूत महाप्रभुने भी अपनी प्रवर्त्तित प्रणालीमें पितृभक्तिको वैसे उच्चस्थान पर नहीं स्थापित किया है क्योंकि उनके अनुगामी कहते हैं कि उन्होंने आवेशदशामें माता शचीदेवीके मस्तक पर चरणार्पण किया था एवं श्रीमद्भागवतमें उक्त नवधाभक्तिसे अतीत अन्य एक मधुरभावका आविष्कारकर सखीभाव अथवा पति-पत्नी प्रेमको ही ईश्वर प्रेमका आदर्श बना गये हैं। उनके सम्प्रदायके वैष्णवलोग सनदीश्वरको प्राणेश्वर कहते हैं।

आर्य्यधर्मके एक अंगमात्रको और अन्यान्यधर्मप्रणालियोंके सर्वस्वको लेकर तुलना करनेसे यही प्रमाणित होता है कि आर्यधर्म ही पूर्ण है। अन्य सब धर्म किसी २ अंशमें धर्मकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर गये हैं एवं कोई २ अतिभावुकता दोषसे दूषित हैं।

नैमित्तिकाचार प्रकरण ।

सप्तम अध्याय ।

व्रत, पूजा, पर्व आदिका विषय ।

आजकल सभी धर्म्मके मत-वाद और विचारमें ही व्यस्त हैं। किन्तु व्रतपालन द्वारा संयम, एकाग्रता, पारलौकिकध्यान, दान आदिका सत् अभ्यास धर्मशरीरका एक प्रधान अङ्ग है—इस तथ्य पर किसीकी दृष्टि नहीं पड़ती। सुनीति-सम्पन्न और सदाचारपरायण होने और इस मार्गमें उत्कर्ष पानेके लिये व्रत-पालनकी शिक्षा मुख्य उपाय है। व्रत=सदाचारका अभ्यास=Discipline.

इस अध्यायमें व्रत पूजा आदि कृत्योंका विषय संक्षेपमें विवृत होगा। अन्यान्य अध्यायोंके समान इस अध्यायका भी प्रधान अवलम्बन स्मार्तशिरोमणि पं० रघुनन्दनका अष्टाविंश तत्त्व है। किन्तु स्मार्त्तशिरोमणिके कृत्यतत्त्वमें जिन सब व्रत पूजा आदिका उल्लेख है वे केवल वङ्गदेशमें प्रचलित हैं। इस अध्याय में कुछ २ समस्त भारतवर्ष पर लक्ष्य किया गया है, क्योंकि कौन २ व्रत और पूजा आदि समस्त भारतवर्षभरमें प्रचलित हैं—यह जाननेके लिये सहज ही कौतूहल होता है; एवं इस समय रेलवेके द्वारा विभिन्न प्रदेश संयोजित होजाने से इस कौतूहलकी पूर्त्ति पहलेकी अपेक्षा स्वल्पायाससाध्य होगई है। कौतूहल पूरणके उपलक्ष्यमें अनेकानेक प्रकृततथ्योंका ज्ञान एवं विसदृशवादोंकी मीमांसा होसकती है।

द्वादशमास अर्थात् वर्षभरके पर्वदिनोंकी जो तालिका परिशिष्टमें दी गई है उसके देखनेसे जान पड़ेगा कि (१) अनेकपर्व भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें साधारणरूपसे प्रचलित हैं (२) और कुछ पर्व ऐसे हैं जो एक ही समय में एक ही विधिसे निर्वाहित होनेके कारण (विभिन्नप्रदेशोंमें) विभिन्न नामोंसे विख्यात होने पर भी एक मानने योग्य हैं और (३) कई एक कृत्य ऐसे हैं जो नाम एवं विधिमें एक हैं किन्तु विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्नसमयमें होते हैं-वे भी एक मानने योग्य हैं।

पर्वाहतालिकाकी परीक्षासे यह भी प्रतीति होगी कि एक प्रदेशमें जो सामान्यकृत्य है, दूसरे प्रदेशमें वही व्रत है एवं अन्य प्रदेशमें वही अति प्रसिद्ध

पूजा है । अँगरेज़ी पढ़े लिखे लोग जिस क्रम-विकासवादको यूरोपका अभिनव आविष्कार समझकर परम समादर करते हैं, पर्वाहृतालिकामें उसी सूत्रका यथेष्ट उदाहरण मिलेगा । दृष्टान्तके समान कहा जाता है कि कार्तिकमासके शुक्लपक्षकी जिस नवमीको दाक्षिणात्यलोग स्नान-दानमात्र करते हैं—पञ्जाब, काश्मीर एवं गुजरात प्रदेशमें उसीका नाम दुर्गानवमी है एवं उसदिन उपवास करके व्रत आदि किया जाता है । बङ्गदेशमें यही शुक्ला नवमी जगद्धात्रीकी पूजाका दिन है । ऐसा होनेका कारण यही है कि दाक्षिणात्य लोग अधिकांश वैष्णव हैं, उत्तर पश्चिम अञ्चलके रहनेवाले लोग अपेक्षाकृत शाक्त हैं एवं बङ्गवासी लोग उनसे भी बढ़ कर शाक्त हैं । किन्तु दुर्गानवमीके सम्बन्धमें जैसे देशभेद उसके विभिन्न परिणामों का कारण पाया गया वैसे अन्यान्य सब कृत्योंकी विभिन्नपरिणतिका कारण सहजमें नहीं आविष्कृत होसक्ता । इस प्रकारके स्थलोंमें शास्त्र और देश-काल के अभिज्ञ महाशयोंकी अनुसन्धित्सा (खोज करनेकी प्रवृत्ति) का उद्रेक ही वाञ्छनीय है ।

और भी एक ऐसा विषय है जिसमें बुद्धिमान्, विद्वान् एवं तत्त्वदर्शी लोगों की अनुसन्धान-प्रवृत्तिकी प्रबलता होनी उचित है । स्थूलरूपसे कहा जाता है कि धर्ममात्रके ही तीन प्रकारके तात्पर्य होते हैं । आध्यात्मिक और आधि भौतिक एवं आधिदैविक । अनेक स्थलोंमें देखा जाता है कि धर्मकार्योंमें ये तीनो तात्पर्य कार्यानुष्ठानके मन्त्रादिमें सुव्यक्त नहीं हैं एवं शास्त्रशिक्षाकी न्यूनता और गुरुके उपदेशकी खर्वताके कारण सब धर्मकर्मोंके जो तात्पर्य अतिविस्पष्टरूपसे व्यक्त नहीं हुए हैं उनके व्यक्त करनेकी कोई चेष्टा भी नहीं होती; सुतराम् ये सब तात्पर्य विलुप्तप्राय होगये हैं और होते जाते हैं । यथासाध्य उनके उन्मोचनकी चेष्टा करना आवश्यक है । यदि गुरुवाक्य स्वरूपतः स्मरण रहें एवं उसका अविकल अनुवाद किया जा सके तो अवश्य ही कुछ एक लुप्त तात्पर्य प्रकाशित होंगे, कुछ फल मिलेगा । पूर्वोल्लिखित आध्यात्मिकादि विविध प्रकारसे भावग्रहण करना आर्यशास्त्रमें ही विशेषरूपसे परिस्फुट हुआ है । सचेतन जीव शरीरके साथ परिदृश्यमान विश्वव्यापारका जो सम्बन्ध है वह सहृदय एवं अन्तर्दर्शनमें अभ्यस्त व्यक्तिमात्रके अन्तःकरणमें उल्लिखित त्रिविधभावोंकी उत्पत्ति करता है । पहले, आत्मा पर इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंके आरोपसे उत्पन्न उस वस्तुके अस्तित्वकी प्रतीति होनेसे ही उस (धर्म) का आधिभौतिक भाव उत्पन्न होता है ।

दूसरे, इन्द्रियग्राह्य वस्तुवें द्रष्टाके आत्मामें आरोपित होनेपर उस (आत्मा) में शक्ति-गुणादिका अनुभव होनेसे अधिष्ठाताका ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी ज्ञानसे आधिदैविक भावकी उत्पत्ति है। तीसरे, इन्द्रियग्राह्यवस्तुकी शक्ति वा गुणमयरूप द्रष्टाके आत्मामें प्रतिभात होने पर आध्यात्मिकभावका ग्रहण होता है। कईएक निम्नलिखित उदाहरणोंके द्वारा उल्लिखित लक्षणोंको विशद करनेके लिये चेष्टा की जाती है। (१) तुम्हारे सामने एक पद्मपुष्प है। तुम पद्मपुष्पके गोल आकार, सुगन्ध, कोमलता आदिका अनुभव कर उसको सब गुणोंका आधार जानते हो, इसीसे उसका आधिभौतिक भाव प्रकट हुआ। तुम जब उस पद्मको शोभाका आधारस्वरूप समझकर उसकी अधिष्ठात्री श्रीदेवीका अनुभव या ध्यान करते हो तब अपने मनमें आधिभौतिक भावको अन्तर्निहितकर हृदय पद्ममें परमपुरुषके स्थानका निरूपण करते हो, तब तुम्हारे आध्यात्मिकभावका उदय होता है (२) यहां वहां अनेक स्थलोंमें जल देख कर जलके गुण जाननेसे आधिभौतिक ज्ञान उत्पन्न हुआ। जल शरीरके क्लेदको नष्ट करता है, प्यासको मिटाता है, माताके दुग्धके समान पोषण करता है—यह जानकर जब उसमें शक्ति आरोपित हुई तब तुम्हारे हृदयमें जलदेवताका आविर्भाव हुआ। तदनन्तर जब जलको आदिम सृष्ट वस्तु जानकर अपनेमें शिवतमरसस्वरूपसे उसके स्रष्टाका स्मरण किया तब आध्यात्मिक भावका ग्रहण हुआ। (३) सूर्यके प्रकाशसे सब जगत् प्रकाशित होता है—यह जाननेसे आधिभौतिक ज्ञान उत्पन्न हुआ। सूर्यकी शक्तिसे सब प्रकारका स्पन्दन (हिलना डुलना) होता है—यह जाननेसे आधिदैविक ज्ञान प्रकट हुआ। जगत्के लिये सूर्य जो हैं, शरीरके लिये हृदयपिण्ड भी वही है एवं हृदयका आधार हैं वही ज्ञानका आधार हैं-यह प्रतीति होनेसे आध्यात्मिक भावका उदय हुआ।

वास्तवमें हम सभी विषयोंको इस त्रिविध रूपसे जानना चाहते हैं एवं इस ज्ञानके मिले विना हमारा क्षोभ नहीं मिटता। सुतराम् पर्वाहकृत्योंकी भी ऐसी त्रिविध व्याख्या होनेका प्रयोजन है। ऐसी व्याख्याका मार्ग जिस प्रकार आविष्कृत हुआ है उसके कई एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(क) जीवसमष्टिका नाम ब्रह्मा है—यह बात बहुत दिनसे सुनी जाती है। ब्रह्माके ध्यानमें जिन २ उपादानोंका सन्निवेश है उन्हीं उपादानोंका अर्थ जानलेनेसे इस चिरप्रचलित वाक्यका तात्पर्य विदित हो सक्ता है। (१) ब्रह्माका वर्ण घोर रक्त (लाल) है। रक्तवर्ण राग अथवा वासनाका बोधक है।

जीवमें वासना है किन्तु शुद्ध वासना नहीं है। शास्त्र एवं दर्शन-दोनोंके मतसे वासना ही जीवके जन्म का कारण है। अतएव रक्तवर्ण होनेसे जीवका बोध होता है। (२) ब्रह्मा चतुर्मुख हैं। इस चतुर्मुखशब्दकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की जाती है। जैसे-(अ) भूचर, जलचर, खेचर, उभयचर; (आ) जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, (इ) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; (ई) ऋक्, यजुः, साम और अथर्वण। स्थलभेदसे ये चारों प्रकारकी व्याख्याएँ सुसंगत हैं। (३) ब्रह्मा अक्षमाला धारण किये हैं। अक्ष * शब्दका अर्थ है इन्द्रिय, अतएव अक्षमालाका अर्थ हुआ इन्द्रियसमूह। जीवमें सब इन्द्रियां हैं। (४) ब्रह्मा कमण्डलुधारी हैं। कमण्डलु † शब्दसे जलका विविधरूपसे संरक्षण जाना जाता है। वास्तवमें जीवशरीर जलके ही विविध विकारोंसे उत्पन्न है। (५) ब्रह्मा हंसवाहनहैं। हंस ‡ शब्दसे निःश्वास प्रश्वासका बोध होता है। जीवमात्र निःश्वास लेने और प्रश्वास छोड़नेसे जीवित रहते हैं §।

अतएव जाना गया कि जीवसमष्टि जैसे ब्रह्माका आधिभौतिक भाव है वैसे ही जीवका सृष्टिकर्त्ता होना उसका आधिदैविक भाव है एवं आत्मामें जो रजोगुणमयी वासना प्रतिभात होती है वही उसका आध्यात्मिक भाव है।

(ख) सुना गया है कि मनुष्यबुद्धिसे चिन्मय परब्रह्मके जितने प्रकारके रूपों की कल्पना हुई है उनमें भगवान् विष्णुका ही रूप अतिसुसंगत है। इस स्थल पर विष्णुके ध्यानमें जिन २ उपादानोंका वर्णन है उनकी प्रकृत पर्यालोचना करनी होगी।

प्रथमतः देखा जाता है कि विष्णुका वर्ण श्याम है। मेघशून्य आकाशका वर्ण भी श्याम है एवं श्यामवर्ण सब वर्णोंकी अपेक्षा प्राणी और उद्भिदोंके शरीरके पोषणमें अधिकतर कार्यकारी है। इसके अतिरिक्त मेघ और सूर्यको धारण किये हुए आकाश विश्वपालनके कार्यमें सर्वदा निरत है। दूसरे, विष्णुके चार हाथ हैं। उनके एक हाथमें शंख, दूसरे हाथमें चक्र, तीसरे हाथमें गदा और चौथे हाथमें पद्म है। अर्थात् विष्णुदेव इन चार पदार्थोंको धारण किये हुए हैं। वह उनके आधारहैं या वे उनके आधेय हैं। इस समय देखना चाहिये कि ये शंख आदि क्याहैं? शंख पदार्थ शब्दका द्योतक है एवं शब्द आकाशका गुण है (शब्द-

* अक्षमाला-अक्षाणां इन्द्रियाणां श्रेणी इति अक्षमाला।

† कमण्डलुः-कस्य जलस्य मण्डं (मण्डनं) लाति रक्षति इति कमण्डलुः।

‡ हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

§ हंसेति सततं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

गुणमाकाशम्) । अतएव शंख आकाशस्थानीय है । चक्र कालचक्रका बोधक है । अतएव चक्रसे "काल" समझना चाहिये । गदा *शब्दसे प्रकाश या दीप्तिका बोध होताहै । अतएव गदासे "ज्ञान" समझना चाहिये । पद्मसे सुप्रसिद्ध सर्वलोकमय पद्म अर्थात् "जीव" समझना चाहिये । अतएव देखा गया कि आकाश या अनन्त विस्तार, अखण्ड दण्डायमान अनन्तकाल, ज्ञान एवं जीवन का जो आधार हैं वही विष्णु हैं। मनुष्य, गुणमात्रको जानसक्ता है एवं गुणको जानकर गुणके आधार अर्थात् गुणीका अनुमान करता है । इसी प्रकार परब्रह्म का अनुभव हुआ है एवं उसके रूपकी कल्पना भी हुई है। तीसरे विष्णुका वाहन गरुड़ है । गरुड़ शब्द† से वाङ्मय वेदका बोध होताहै । अर्थात् परब्रह्म अथवा उपनिषद् पुरुष वेद द्वारा प्रतिपाद्य है । अतएव देखा गया कि आकाश या विष्णुपद जिसका आधिभौतिक रूप है वही आधिदैविकभावसे पालनकर्ता विष्णु है एवं आध्यात्मिक भावसे वही परमात्मा है ।

(ग) यदि महादेवके ध्यानको लेकर विचार किया जाय तो पहले उनका श्वेतवर्ण होना देख पड़ता है । श्वेतवर्णसे विशुद्ध सत्त्वगुणका बोध होता है, अर्थात् वह निर्विकार साम्यावस्थाका द्योतक है । किसकी साम्यावस्था ? जिसमें वर्णोंकी ‡ कल्पना हुई है उसी अजीवी प्रकृतिकी अर्थात् तीनों गुणोंकी साम्यावस्था । इस साम्यावस्थामें सृष्टिक्रिया निवृत्त होती है, सुतराम् यह महाप्रलयबोधक है । दूसरे, शिवके हाथमें स्थित त्रिशूल भी कुछ विशेषताके साथ इसी भावका द्योतक है । त्रिशूलके ऊपरके तीन फल (शिखा) अर्थात् सतोगुण रजोगुण, तमोगुण परस्पर पृथक् हैं, अतएव वह सृष्टिकालका बोध कराते हैं । किन्तु त्रिशूलके निम्नभागमें ये तीनों फल एकत्रित हैं अर्थात् तीनों गुणोंकी साम्यावस्था हुई है । इसी अवस्थाका नाम महाप्रलय है । अतएव महादेवमें सृष्टिकाल और लयकाल—दोनों काल जान पड़ते हैं । तीसरे, महादेवके दूसरे हाथमें डमरू यन्त्र है । डमरुवाद्य (बाजा) शब्दका बोधक है, सुतरां आकाशस्थानीय है । चौथे, महादेवके तीन नेत्र हैं । ये तीनों नेत्र चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि हैं । सुतराम् वह विराट्‌रूप हैं । पांचवें, महादेवका वाहन बैलहै । वृष (बैल) शब्द धर्मवाचक

---

* गद् धातु भीषण या प्रकाशार्थक कर्तृवाच्य अच् प्रत्ययसे सिद्ध है । उसीसे गदा शब्द बनता है ।

† गृ निगरणे धातुसे उर प्रत्ययके प्रयोग द्वारा 'गरुर' बनता है। वर्णसाम्यके कारण "गरुड़" ऐसा उच्चारण किया जाता है ।

‡ वर्णोंकी कल्पना यों की गई है-अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् ।

है । धर्महो चिरकालस्थायी है, यहांतक कि प्रलयकालमें भी रहनेवाला है । इसी लिये प्रलय हो जाने पर फिर जो सृष्टि होती है उसमें पूर्वसञ्चित धर्मके अनुसार ही जीवोंमें इतरता और विशेषता होती है ।

अतएव जाना गया कि महादेवका आधिभौतिकभाव 'सृष्टि' एवं प्रलय सहित महाकाल है । उनका आधिदैविक भाव महाकालके ध्यानमें वर्णित देव-रूप है एवं आध्यात्मिक भाव समाधि है ।

सन्ध्यावन्दनमें ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—इन तीनों देवोंका ध्यान जैसा कहा गया है उसीका एक एक करके विचार करनेसे उक्त तीनों देवोंके ये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भाव प्रकट हुए हैं । इसके अतिरिक्त इस विचारके द्वारा यह भी प्रकाशित हुआ कि आर्यशास्त्र (१) परब्रह्मके रूपकी कल्पनामें चार हाथ (२) विराट्के रूपकी कल्पनामें तीन नेत्र (३) महाकालके रूपकी कल्पनामें श्वेतवर्ण और हाथमें त्रिशूल (४) जीवके रूपकी कल्पनामें रक्तवर्ण और चारमुख कल्पित कर अपने अभीष्टको सिद्ध करता है ।

पूर्ववर्णित चार सूत्रोंकी स्मृति बनाये रखकर अन्यान्य देवदेवियोंकी मूर्ति की व्याख्या करनेमें प्रवृत्त होनेसे अनेकानेक नवीन भावोंका प्रकाश एवं नवीन २ सूत्रोंका भी आविष्कार होता है । यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि सभी देवतोंका ध्यान उसी परब्रह्मके पूर्ण या अपूर्ण विकासकी चेष्टामात्र है । सुतराम् अभेदज्ञानसम्पन्न आर्यशास्त्र देवताका नाम एक रख कर भी भिन्न २ ध्यानोंसे परब्रह्मके अंशविकासको भिन्न २ परिमाणमें भिन्न २ रूपसे दिखला सक्ता है जैसे महादेव किसी ध्यानमें परब्रह्म हैं, किसी ध्यानमें महाकाल हैं, किसी ध्यानमें जीव हैं, किसी ध्यानमें पृथ्वीरूप अथवा जलरूप वर्णित है । इसी बातका उदाहरण दिखलानेके लिये कईएक अन्य देवमूर्तियोंका विचार किया जाता है—

(घ) कालिकादेवीके ध्यानमें देखा जाता है कि उनका वर्ण कृष्ण है, चार भुजा हैं, गलेमें मुण्डमाला पड़ी है एवं हाथमें तुरंतका कटा हुआ नरमुण्ड है । वह स्वयं अभया और वर देनेवाली हैं, दिगम्बर एवं मुण्डमालाके रक्तसे विभूषित हैं। दो शर या बाण उनके कर्णाभरण हैं । उनकी दंष्ट्राएँघोर हैं और पयोधर पीन व उन्नत हैं । एकसे एक हाथ जोड़े शवोंकी बनी काञ्ची धारण किये हैं । दोनों सृक्किणी (बोंहों) से रुधिर बह रहा है । वह श्मशानालयविहारिणी और त्रिनयना हैं । महादेवके हृदय पर स्थित हैं । चारों ओर शिवागण (सिया-

रियोंके झुंड) उनको घेरे हैं । वह महाकालके साथ विपरीतरतिमें तत्पर है एवं उनका मुख सुखपूर्ण प्रसन्न है ।

इस ध्यानमें देखा जाता है कि कालिकाके चार भुजा हैं, अतएव प्रथम सूत्रके अनुसार यह मुक्ति देनेवाली परब्रह्मस्वरूपिणी हैं । कालिकाके तीन नेत्र हैं, अतएव द्वितीय सूत्रके अनुसार यह विराट् या विश्वरूपिणी हैं । कालिका महाकालके हृदय पर स्थित हैं अतएव प्रकृतिकी विषम अवस्था जतानेवाली अर्थात् सृष्टि-रूपिणी हैं । कालिकाका शरीर रुधिरसे चर्चित है अतएव (वह घोर कृष्णवर्ण अर्थात् एकान्त अपरिज्ञेया होकर भी) चतुर्थसूत्रके अनुसार जीवबोधक रक्तवर्णसे विभूषित हैं ।

पूर्वसूत्रोंके प्रयोगसे यहाँ तक जाना गया । किन्तु अभी और कई एक विषयोंके जाननेका प्रयोजन है । जैसे (१) मुण्डमाला क्या है ? (२) हस्तधृत सद्यश्छिन्न मस्तक क्या है ? (३) दोनों कर्णाभरणरूप बाण क्या हैं ? (४) एकमें एक हाथ जोड़े शवोंसे रचित काञ्ची क्या है ? (५) श्मशानालयमें निवास क्या है ? एवं (६) शिवागणसे वेष्टित रहना क्या है ?

मुण्डमाला तो 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त वर्णमालाका बोध कराती है । अक्षरोंके द्वारा सभी वस्तुओंके नाम-रूप आदि लिखे जा सकते हैं, इसीसे वर्णमाला सब द्रव्योंका स्वरूप मानी गई है । अतएव मुण्डमालाके भूषणसे यही व्यक्त हुआ कि कालिका देवी सर्वमयी हैं ।

हस्तधृत सद्यःछिन्न मस्तक—अहंज्ञान द्वारा जीवका सबसे विच्छिन्न होना है । जीव, अभिमानके दोषसे अपनेको सर्वका (ही) एक अंशमात्र नहीं समझता, किन्तु जीव सर्वकर्तृक धृत न रहे तो उसकी स्थिति ही असम्भव है । इससे जीवके साथ सर्वेश्वरीके प्रकृतभावकी अभिव्यक्ति हुई ।

दोनों कर्णाभरणरूप बाण, चन्द्र एवं सूर्य हैं । दक्षिणा कालीदेवीको उत्तराभिमुखी मान कर, "कृष्णवर्ण आकाश कालिकाका कृष्णवर्णकेशकलाप है एवं वह केशकलाप आलुलायित है"—मनमें यह चित्र देखनेसे जान पड़ेगा कि पूर्व आकाशमें पूर्णिमाका चन्द्र एवं पश्चिम आकाशमें अस्तगामी सूर्य—येही देवीके दोनो कानोंके दोनों बलय हैं । धूमावतीके स्तोत्रमें कर्णाभरणका ऐसा अर्थ स्पष्ट ही वर्णित है । यथा—

वामे कर्णे मृगाङ्कं प्रणयपरिगतं दक्षिणे सूर्यबिम्बम् ।

परस्पर हाथ जोड़े शवोंसे निर्मित काञ्ची, इस तथ्यका बोध कराती है

कि देवीका शरीर पञ्चभूतद्वारा आवृत है। शवशब्दका अर्थ मेदिनीकोषमें जल लिखा है। जल पञ्चभूतस्थानीय है। अतएव सृष्टि करनेवाली कालिकाका आवरण पञ्चभूत हैं, फलतः हमलोग पञ्चभूतोंका कार्य या गुण ही देख पाते हैं। उनके भीतर आद्याशक्तिकी प्रभावसे अवस्थिति, अनुभवद्वारा ज्ञात होती है।

श्मशानालयमें निवास—इसका बोध कराता है कि आद्याशक्ति पञ्चभूतोंके मध्यमें अवस्थित है * अर्थात् पाँचो भूतोंकी जहाँ अवस्थिति है सृष्टिशक्ति वहीं अनुप्रविष्ट है।

शिवागणावेष्ठिता—का भाव यह है कि वह सम्पूर्ण मङ्गल † देनेवाली हैं।

कालिकादेवीके रूपक ध्यानकी उल्लिखित व्याख्यासे जिन कई एक सूत्रों का संकलन होता है वे संक्षेपसे कहे जाते हैं। (१) कृष्णवर्ण—अप्रतर्क्यता अथवा अपरिज्ञेयताका बोधक है। (२) मुण्डमाला—वर्णमालाका बोध कराती है। (३) छिन्न मुण्ड—जीवकी अन्ध-स्वतन्त्रता है। (४) दिगम्बर होना सर्वव्यापकताका ज्ञापक है। (५) घोर दंष्ट्रा—विनाश शक्तिका बोध कराती हैं। (६) पीन और उन्नत पयोधर—पालन-पटुताके बोधक हैं। (७) दोनों सृक्किणी (बोहों) से रुधिरका बहना—'विनाशसे जीवकी सृष्टि होती है'—इस तथ्यको प्रकाशित करता है। (८) विपरीतरतिमें तत्परता,—'शक्तिनिवेशके बिना केवल काल-स्वधर्मसे सृष्टि नहीं होती'—इस तथ्यका संस्थापन है।

और भी कई एक उदाहरणोंको दिखलाकर इन पूर्वकथित चार और तदनन्तर कथित आठ-सब मिलाकर बारह सूत्रोंके स्मरणसे और भी अनेकानेक देवमूर्तियोंकी व्याख्या होसकती है-यह दिखलाते हुए सूत्रप्रयोगकी प्रणाली भी कुछ २ स्पष्ट की जाती है।

(ङ) तारा-दश महाविद्याओंमें प्रथमा या आद्या तो कालिका हैं और दूसरी तारा हैं। श्लोकादिमें ये दोनों नाम उत्तरोत्तर वर्णित हैं, इसी कारणसे कालिका पहली और तारा दूसरी हों सो नहीं है। कालिकासे ही ताराकी उत्पत्ति है ‡। कथित है कि कौशकीने कृष्णवर्णा होकर कालिकारूप धारण किया। कालिका सर्वमयी हैं, तारा विश्वमयी पृथ्वीरूपिणी हैं।

तारा देवीका ध्यान इस प्रकार है—वह प्रत्यालीढपदा, घोरा, मुण्डमाला-विभूषिता, खर्वा, लम्बोदरी, भीमा, व्याघ्रचर्मावृता, नवयौवनसम्पन्ना, पञ्चमुद्रा-

---

* श्मशान-महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते। शेरतेऽत्र शवाभूत्वा श्मशानं ततस्तोऽभवत्॥

† शिवा-शिवं कल्याणं करोति या सा शिवा।

‡ विनिःसृतप्याविष्यास्तुमातङ्ग्याः कायतस्तदा। भिन्नाञ्जनिभाकृष्णा...(कालिकापुराणे)

विभूषिता, चतुर्भुजा, लोलजिह्वा, महाभीमा, वरप्रदा, दक्षिण ओरकी दोनों भुजाओंमें खड्ग और कर्तरी लिये एवं वाम ओर की दोनों भुजाओंमें कपाल और उत्पल-पुष्प लिये, शिरपर पिङ्गलवर्ण अग्रभागसे सुशोभित एकजटाको धारण किये, अक्षोभ्यभूषिता, त्रिलोचना, जलती हुई चिताके मध्यमें अवस्थिता, घोरदंष्ट्रा, करालवदना, स्वावेशकृत हास्यमुखी, स्त्रियोंके अलंकारोंको धारण किये, विश्वव्यापक-जल-मध्य-गत श्वेत पद्मके ऊपर स्थित हैं।

(१) प्रत्यालीढ़पदा—अर्थात् युद्धगमनके लिये उद्यता। वामाओंका वामपद अग्रवर्त्ती होता है—यह बात अलङ्कारशास्त्रसम्मत है।

(२) घोरा—अर्थात् भयानका। कालिका एवं तारा की मूर्त्तिमें रौद्र एवं भयानक रसका आवरण दिया गया है।

(३) मुण्डमालाविभूषिता—छठे सूत्रके अनुसार इससे देवीका विश्वमयी होना प्रकट किया गया है।

(४) खर्वा—कौशिकीमूर्त्तिसे निकली हैं सुतराम् उस सर्वमयीकी अपेक्षा खर्वाकारविशिष्टा हैं।

(५) लम्बोदरी—इससे यह सूचित हुआ कि वह ब्रह्माण्डभाण्डोदरी हैं अर्थात् उनके उदरमें ब्रह्माण्डभाण्ड है।

(६) भीमा—पूर्वोक्त "घोरा" शब्दके द्वारा भी यही भीम या भयानक भाव प्रकट किया गया है।

(७) व्याघ्रचर्मावृता—व्याघ्र * शब्द गन्धका उपादान है अर्थात् मृत्तिकाका बोधक है। धरित्रीरूपिणी तारा मृत्तिकाके आवरणसे आवृता हैं।

(८) नवयौवनसम्पन्ना—धरित्रीका यौवन अर्थात् सौन्दर्य एवं प्रसवक्षमता चिरस्थायी है।

(९) पञ्चमुद्राविभूषिता—तन्त्रचूड़ामणिग्रंथमें ताराकी पञ्चमुद्राओंको पञ्चकपाल कहकर व्याख्या की गई है। कपाल † जलधर अर्थात् मेघका वाचक है, अतएव पञ्चकपाल या पञ्चमेघ, चार गज एवं पर्जन्य अर्थात पृथ्वीके ऊर्द्ध्व-भागमें स्थित मेघमालाके सूचक हैं।

---

* घ्राणगन्धोपादाने इति वि+आ+घ्रा धातोः क प्रत्ययेन व्याघ्रः। गन्धवती पृथिवी।

† कपालः—कं जलं पालयति धारयतीति कपालः।

(१०) चतुर्भुजा—अर्थात् (पहले सूत्रके अनुसार) परब्रह्ममयी ।

(११) लोलजिह्वा—यह विशेषता विनाशोन्मुखताका ज्ञापक है ।

(१२) खड्ग, कर्त्तरी, कपाल, उत्पल—खड्ग कालका बोधक है, कर्त्तरी ज्ञानका बोध कराती है, पानपात्ररूप कपाल आकाशका एवं उत्पल जीवका बोधक है ।

(१३) पिङ्गाग्रैकजटा—अन्य ध्यानमें इस पिङ्गलवर्ण अग्रभागविशिष्ट एकजटाके सम्बन्धमें लिखा है कि "खं लिखन्ति जटामेकम्"। पृथ्वीके वर्णनमें भी लिखा है—"मध्येपृथिव्यामद्रीन्द्रो भास्वान्मेरुर्हिरण्मयः। योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिसमुच्छ्रितः॥" अर्थात् परमकान्तिशाली सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु पृथ्वीके मध्यस्थलमें स्थित तथा चौरासी हज़ार योजन ऊपरको ऊँचा है। अतएव यही सुमेरु वह एकजटा है ।

(१४) अक्षोभ्यभूषिता—अक्षोभ्यका अर्थ है जो विचलित न हो*, यह बात अखण्डदण्डायमान आकाशमें है । आकाशका आकार सर्पके सदृश है । सूर्य कुण्डली बनाकर गोल होजाता है, इसीसे आकाश आद्यन्तरहित अनन्त (नाग) का ज्ञापक है । अतएव पृथ्वीके शिरपर कपाल वा मेघ है एवं उसके ऊपर अनन्त आकाश है । तारादेवीने स्वयं आकाश या अनन्तके लिये देव-शब्दका प्रयोग किया है । यथा—

मम मौलिस्थितं देवमवश्यं परिपूजयेत् ।

(१५) त्रिलोचना—अर्थात् (पूर्वोक्त द्वितीय सूत्रके अनुसार विश्वरूपिणी ।

(१६) ज्वलच्चितामध्यगता—अर्थात् सर्वदा सूर्यकी किरणोंसे परिवेष्टिता । पृथ्वीके ध्यानमें भी उसको "वन्हिशुद्धांशुकाधानाम्" अर्थात् अग्निविशुद्धवस्त्र-धारिणी कहा गया है ।

(१७) विश्वव्यापक जलके भीतर श्वेतपद्मके ऊपर स्थित—इससे भी तारा देवी पृथ्वीही प्रतीत होती हैं । क्योंकि पृथ्वीके भी सम्बन्धमें कहागया है कि—"जले तां स्थापयामास पद्मपत्रं यथा ह्रदे"। अर्थात् उस (पृथ्वी) को सरोवरमें पद्मपत्रके समान जलपर स्थापित करदिया ।

(च) षोडशी—काली एवं ताराकी मूर्त्तिमें गुह्य अतिगुह्य सृष्टिशक्तिका ही प्रधान अवलम्बन लेकर उनके ध्यानके उपादानोंका सङ्कलन हुआ है । षोडशीके

---

* अक्षोभ्य—क्षुभविलोडने इति, नञ् पूर्वक क्षुभ धातुमें य प्रत्ययके संयोगसे सिद्ध होता है ।

ध्यानमें पालनकर्तृत्वका भाव ही प्रधान अवलम्बन है । षोडशीके ध्यानमें जैसा ऐश्वर्यका वैसा ही सौन्दर्यका अति अधिक विस्तार है । इन्हींकी सेवासे स्वयं कामदेवने सौन्दर्य-सम्पत्ति पाई है ।

षोडशीके हाथोंमें पाश व अङ्कुश है, वह रक्तपद्म पर आसीन हैं, इनके चार भुजा और तीन नेत्र हैं एवं अन्य दो हाथोंमें सज्य धनुष व पञ्चबाण शोभित हैं । अर्थात् चतुर्भुजा एवं त्रिनेत्रा षोडशी देवी परब्रह्ममयी व विश्व-रूपिणी होकर भी विशेषरूपसे जीवाधिष्ठात्रीरूपसे ही दिखलाई गई हैं । इसी कारण कर्मेन्द्रियोंको संयत रखनेके लिये पाश एवं उनको यथार्थ मार्गमें चलाने के लिये अंकुश लिये हैं । उनके हाथका सज्य धनुष चक्राकार व टंकारका द्योतक होनेके कारण एकसाथ ही काल एवं आकाशका बोध कराता है । पाँच बाण पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके ज्ञापक हैं ।

(छ) भुवनेश्वरी—इनका भी रक्तवर्ण है, यह चन्द्रकिरीटधारिणी, तुङ्ग-कुचविशिष्टा, त्रिनयना, हास्यमुखी एवं हाथोंमें वर, पाश, अंकुश और अभय धारण किये हैं । अतएव भुवनेश्वरी देवी भी जीवाधिष्ठात्री और जीवपालन-कर्त्री हैं । भुवनेश्वरी विश्वमयी, आनन्दमयी वर और अभय देनेवाली हैं । कर्मेन्द्रियोंको संयत रखनेवाली और प्रेरित करनेवाली हैं । भुवनेश्वरीकी मूर्तिमें पाश और अंकुशने चक्र और कर्तरीका स्थान लेलिया है एवं वर व अभयमुद्राने आकाश और जीवका स्थान लेलिया है ।

(ज) देवी अन्नपूर्णा यद्यपि दश महाविद्याओंमें नहीं गिनाई गई हैं तथापि यह भी भुवनेश्वरीदेवीकी ही दूसरी मूर्त्ति हैं । यह मुक्तिदायिनी, परब्रह्म-मयी रूपसे वर्णित हैं * ।

अन्नपूर्णाके दो हाथ हैं । उनके एकहाथमें चषक अर्थात् पानपात्र है एवं दूसरे हाथमें दर्वी है । उनके सामने चन्द्रशेखर, त्रिनयन महादेव हैं । वह (शिव) देवीसे भोजनकी सामग्री पाकर भोजन करते हुए नृत्य कर रहे हैं एवं उसे देखकर देवी हँस रही हैं ।

इस स्थल पर देखा जाता है कि चषक या पानपात्र आधारगुणविशिष्ट है, अतएव वह सर्वाधार आकाशके स्थान पर है । दर्वीयन्त्र भी परिघट्टन-समर्थ

* यामाहुराद्यामकलिम्मुनीन्द्राः पद्मां त्रिशक्तिं गिरमन्नपूर्णाम् । नित्यांश्च दुर्गास्वरिता न्नचान्वां भजामि नित्यम्परमेश्वरीं ताम् ॥

होनेके कारण मासचतुमय समयके स्थान पर है। महादेवकी मूर्त्ति विराट्रूप है एवं भोजनग्रहणद्वारा तथा नृत्य वा स्पन्दके द्वारा जीव-धर्मको प्रकट कर रही है। उसके देखनेसे देवीका हर्ष ज्ञानका बोध कराता है।

(झ) सामान्यदृष्टिसे छिन्नमस्ताकी मूर्त्ति अत्यन्त विसदृश जान पड़ती है। वह अपना शिर काट कर अपने हाथमें लिये हैं एवं उनके कण्ठसे जो तीन रुधिरकी धाराएँ निकल रही हैं उनमेंसे एक धारा तो उन्हींके हाथमें स्थित उनके छिन्न मस्तकके मुखबिवरमें गिर रही है एवं अन्य दोनों धाराओंको देवीकी संगिनी डाकिनी और वर्णिनी पी रही हैं।

छिन्नमस्ता देवी दश महाविद्याओंमें हैं। इनके मन्त्रकी दीक्षा प्रचलित है। यह मुक्ति देनेवाली हैं, सुतराम् इनकी मूर्त्तिमें परब्रह्मका भाव रहेगा। किन्तु इनके हाथ केवल दो हैं; एकमें असि और दूसरेमें कटा हुआ शिर है। छिन्न-मुण्ड तो अवश्य ही सप्तमसूत्रके अनुसार जीवका ज्ञापक है एवं कर्तरी या असि भी अहंरूप ज्ञानका बोध कराती है। किन्तु काल तथा आकाशके बोधक पदार्थ कहाँ हैं? डाकिनी और वर्णिनी ही काल और आकाश हैं। देवीके वामपार्श्वमें स्थित डाकिनी—जिसका वर्णन "दन्तपङ्क्तिबलाकिनी"—कह कर किया गया है वही आकाश है। उड़ रही बकश्रेणीको बलाका कहते हैं। "दन्तपङ्क्ति बलाका के समान है"—इस कथनसे उस दन्तपङ्क्तिके आधारस्वरूप शरीरका "आकाश" होना सूचित है। और देवीके दक्षिणपार्श्वमें स्थित वर्णिनी देवी—जो सदा द्वादशवर्षीया बताई गई हैं वह "काल" हैं। द्वादशवर्षीया कहकर उससे वर्ष वा कालका निर्देश किया गया है। यह भी देवीके कंठसे प्रवहमान जो रक्तधारा या जीव-प्रवाह है उसीसे जीवमयी हैं।

छिन्नमस्ता देवीका वर्ण रक्त एवं नेत्र तीन हैं। इससे वह जीवमयी-विराट् मूर्ति हैं। इसी कारण काम एवं रतिके ऊपर अधिष्ठित हैं। कालिका देवीके हस्तधृत छिन्न मुण्डका भाव छिन्नमस्तामें अत्यन्त स्पष्ट होगया है।

अब अन्य देवतोंके ध्यानोंकी व्याख्या अधिक नहीं कीजायगी, जिन कई एक देवतों की पूजा सबकी अपेक्षा अधिक प्रचलित है उन मुख्य देवतोंके ध्यान का स्थूल तात्पर्य मात्र कहा जायगा। कहाँतक कहें,—व्यक्ति, वस्तु, क्रिया, भाव आदि सभी देवतोंकी आधिभौतिक अभिव्यक्ति माने जा सक्ते हैं।

(ञ) श्रीकृष्ण—श्रीकृष्ण पृथ्वीको निर्वृति या तृप्ति देनेवाले हैं * शास्त्रमें

---

* कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। इत्यादि. (इति गोपालतापनीय टीका)

इनको भगवान्‌का अवतार, नेता पुरुष और चौंसठकला विद्यासे युक्त कहा है। इनके ध्यान, धारणा और चिन्तनसे मनुष्य सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है।

(ट) श्रीराधा–सम्यक् सिद्धि या मुक्ति हैं। इनमें पूर्णज्ञानका परमानन्द विराजमान है।

(ठ) कार्त्तिकेय–स्त्री-संभोगका आधिदैविक रूप हैं।

(ड) गणेश–भक्ष्य-ग्रहणका आधिदैविक रूप हैं।

(ढ) लक्ष्मी–ऐश्वर्य एवं सौन्दर्यकी अधिष्ठात्री हैं।

(ण) सरस्वती–गद्य-पद्यमय वाक्यकी अधिष्ठात्री हैं।

षष्ठी * –जीवके छठे भाग अर्थात् शैशव एवं किशोर अवस्थाकी अधिष्ठात्री हैं। यह कार्तिकेयकी पत्नी हैं एवं स्वामीके निकट हाव-भाव-कटाक्षपूर्ण आनन्दमयी होने पर भी शिशुके निकट ब्रह्मचारिणी हैं।

(त) श्रीरामचन्द्र–इनके चिन्तनसे योगीगण आनन्दका अनुभव करते हैं। यह भगवान्‌का अवतार आदर्शपुरुष हैं।

(थ) महिषमर्दिनी–इनके ध्यानके अङ्गस्वरूप पदार्थोंका तात्पर्य या भावार्थ कुछ विस्तारके साथ कहा जाता है–

(१) जटाजूटसमायुक्ता–तारादेवीके जटा है, इनके भी है। इनकी मूर्त्ति ताराका ही अवान्तरभेद है।

(२) अतसीपुष्पवर्णाभा–अतसीपुष्पका वर्ण पीत होता है एवं पीतवर्ण भी रक्तवर्णके समान जीवका बोधक है।

(३) महिषासुरमर्दिनी–महिष मृत्युका वाहन अर्थात् मृत्युका भय है। देवी मृत्युभयको नष्ट करनेवाली हैं।

(४) दशबाहुसमन्विता–इसका यह तात्पर्य है कि वह देवतोंके तेजकी समष्टि हैं। दशदिक्पालोंके अस्त्र ग्रहण करनेसे दशभुजा हैं।

(५) अर्द्धेन्दु-कृत-शेखरा–सप्तमी, अष्टमी एवं नवमी तिथि देवीकी पूजा का समय हैं। इस समय आकाशमें अर्द्धेन्दु अर्थात् आधा चन्द्रमा देख पड़ता है। दृष्टवस्तुके साथ मेल रखकर ही ध्यान की रचना होती है एवं इसी कारण

---

* षष्ठांशरूपा प्रकृतेस्तेनषष्ठीप्रकीर्तिता। पुत्रपौत्रप्रदात्रीच धात्री त्रिजगतां सती ॥
सुन्दरी युवती रम्या सन्ततंभ र्तुरन्तिके। स्थाने शिशूनां परमा वृद्धरूपाच योगिनी ॥

देवमूर्तियोंमें आधिभौतिक भाव अनभिव्यक्त अर्थात् अप्रकट नहीं रहता । पूजा-काल भी आश्विनमास है, जब 'सिंहके' पीछे या पृष्ठ पर कन्याराशिमें सूर्यका आविर्भाव होता है ।

(६) त्रिशूल—महाकाल या सर्वमयका सूचक है ।

(७) खड्ग-खण्ड—'काल'का सूचक है ।

(८) चक्र—विष्णु वा व्यापकका बोधक है ।

(९) बाणसहित धनुष—वायुतत्त्वका बोधक है ।

(१०) शक्ति—अग्नितत्त्वका बोध कराती है ।

(११) खेटक—यमका बोधक है ।

(१२) पाश—वरुणका बोधक है ।

(१३) अङ्कुश और घंटा—इनसे इन्द्रका बोध होता है ।

(१४) परशु—विश्वकर्म्माका बोधक है ।

(१५) बिना शिरका महिष—मृत्युभयका छेदन या निवारण है ।

(१६) शिर कटनेसे उत्पन्न दानवका दूसरा शरीर—मृत्युका भय किसी एक रूपसे नष्ट होने पर दूसरे रूपसे उसकी उत्पत्ति है ।

(१७) उस दानवका शूलसे निर्भिन्न होना—'महाकालस्वरूप "सर्वंखलु इदम्ब्रह्म"—इस महा वाक्यसे ही यथार्थरूपसे मृत्युका नाश होता है'—इस तथ्यका प्रकाश है । वास्तवमें इसी महावाक्यके प्रभावसे 'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—इस उपनिषद्के तथ्यका परिज्ञान होता है । देवतोंके अस्त्र, शस्त्र वैदिकमन्त्रादिके नाममात्र हैं ।

(१८) देवी नागपाशसे वेष्ठिता हैं—अर्थात् अनन्त-बन्धनमें बँधी हुई हैं ।

(१९) देवीका सिंह—सम्वित् वा पूर्णज्ञान है ।

महिषमर्दिनी दुर्गाके सम्बन्धमें एक यह पौराणिक वचन है—

बुद्ध्यधिष्ठात्री सा देवी सर्वशक्तिस्वरूपिणी ।
सर्वज्ञानात्मिका सर्वा सा दुर्गादुर्गनाशिनी ॥

अर्थात् वह देवी बुद्धिकी अधिष्ठात्री, सर्वशक्तिस्वरूपा, सर्वज्ञानमयी संकटनाशिनी सर्वमयी दुर्गा हैं ।

इस अध्यायकी समाप्तिके समय एक बातका उल्लेख आवश्यक है। वह बात यह है कि देवमूर्तिआदिकी भौतिक व्याख्या इस अध्यायमें जिस प्रकार की गई है वही एकमात्र व्याख्या नहीं है। पुराण आदिमें एवं उपनिषदोंका अनुकरण करनेवाले ग्रंथ आदिमें भी किसी २ देवमूर्तिकी व्याख्या उल्लिखित व्याख्यासे थोड़ी बहुत स्वतन्त्रभावसे की गई है। स्वतन्त्रव्याख्या कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल उल्लिखित व्याख्यासे स्वतन्त्र हैं; इन सब पुराणादिकोंकी व्याख्याओंमें भी परस्पर स्वतन्त्रता परिलक्षित होती है। अतएव जानना होगा कि उपासकगण—जो जैसे अच्छा समझें उसीके अनुसार अपने हृदयमें उठे हुए भावके साथ सुसङ्गत कर अन्य प्रकारकी भौतिक व्याख्या भी कर ले सक्ते हैं। और एक बात यह है कि किसी २ के मतमें देवमूर्तियोंका ऐसा भौतिकभाव प्रकाशित करनेसे उन पर लोगोंकी श्रद्धा घट जायगी, जिससे धर्मकी हानि होना सम्भव है। किन्तु जो लोग यों कहते हैं वे निपट भ्रान्त हैं। कदाचित् समझते हैं कि देवमूर्तिकी आधिभौतिक व्याख्या रहने पर फिर उसका आधिदैविक एवं आध्यात्मिक भाव कैसे रहेगा। किन्तु यह संशय यथार्थ नहीं है। सत्य ही ब्रह्म है। सत्य एक होनेपर भी अनेक है। अज्ञताआदि दोषोंके कारण देवमूर्तिआदिकी शास्त्रसिद्ध त्रिविध व्याख्याओंके लुप्त होनेसे इस प्रकारका कुसंस्कार उत्पन्न होगया है।

आर्यशास्त्रके रचनेवाले लोगोंने किसी समयमें ऐसी बात सोची भी नहीं। वे अधिकारियोंकी विभिन्नताके तथ्यको पूर्णरूपसे स्वीकृत करके भी चिरकालसे शास्त्रके तात्पर्यमें प्रवेश करनेका मार्ग दिखाते आते हैं एवं उसी मार्गमें जानेके लिये उत्तेजित करते हैं। ऋग्वेदमें ही विभिन्न देवमूर्त्तियोंका सिद्धान्त इसप्रकार व्यक्त कियागया है। यथा—

रूपंरूपंप्रतिरूपोबभूव
तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय॥
इन्द्रोमायाभिःपुरुरूपईयते
युक्ताह्यस्यहरयः शतादश॥

अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली भगवान् निजशक्तिद्वारा अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं। भगवान्के नानारूपधारणका कारण केवल यही है कि उपासक लोग सुगमताके साथ ध्यान कर सकें। भगवान्के रूप अनन्त हैं; उनमें दश रूप

मुख्य हैं [अर्थात् समधिकसंख्यक लोगोंने उनको उपासनाके लिये ग्रहण किया है]।

इसके उपरान्त वेदाङ्गमें भी शास्त्रके तात्पर्यको न जाननेवालेकी निन्दा करके कहा गया है कि—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानातियोऽर्थम्।"

अर्थात् जिसने वेद पढ़ा परन्तु उसका भावार्थ (क्योंकि वैदिक समयमें वेदका अक्षरार्थ अधिकारी मात्रको ज्ञात था) नहीं जाना वह भार ढोनेवाले गर्दभके समान है।

स्मृतिशास्त्रमें भी ईश्वरके ध्यानकी क्रमप्रणाली वर्णित है—

"अथ निराकारे लक्ष्यबन्धं कर्त्तुं न शक्नोति, तदा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश मनोबुद्ध्यव्यक्तपुरुषाणि पूर्वं ध्यात्वा तत्र तत्त्व लक्ष्यं परित्यज्य अपरमपरं ध्यायेत्, एवं पुरुषध्यानमारभेत।"

अर्थात् जब निराकारमें लक्ष्यको स्थिर नहीं कर सक्ता तब पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि अव्यक्त और पुरुष—इनमें पूर्व २ तत्त्वका ध्यान करे। जब जिसमें लक्ष्य स्थिर होजाय तब उसे छोड़कर दूसरेमें लक्ष्य जमावे। इस प्रकार पुरुषके ध्यानका प्रारम्भ करे।

भगवद्गीतामें कहा गया है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छन्ति।
तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

भगवान् कहते हैं कि जो २ व्यक्ति मेरे जिस २ शरीर की श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है, मैं उस २ को उसी २ रूपमें अचल श्रद्धा देता हूँ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि उच्च अधिकारीके योग्य बात सुनकर उसे ग्रहण न कर सकनेसे ही श्रद्धापूर्ण निम्नाधिकारी अपने अधिकारके उपयुक्त देव-मूर्त्तिमें श्रद्धाहीन नहीं होजाता। तन्त्रशास्त्रमें ही इस विषयकी अतिविशद-रूपसे व्याख्या की गई है। तन्त्र कहता है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्यनिष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना॥

अर्थात् चिन्मय, अद्वितीय, पूर्ण एवं अशरीरी ब्रह्मके रूपकी कल्पना, उपासकोंकी सिद्धिकी सुगमताके लिये की गई है।

अतएव देवतोंकेरूप शास्त्रकारोंकी कल्पना हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । किन्तु यह कल्पना किसीकी मनमानी मनगढ़न्त नहीं है । इस कल्पनाके मूलमें 'सर्वं खल्विदम्ब्रह्म' एवं 'सर्वं सर्वात्मकम्'—ये दोनों महावाक्य स्थापित हैं—यह तथ्य प्रकट करना ही इस अध्यायका अन्यतम उद्देश्य है । यदि सभी रूपोंके प्रति इस अध्यायमें निर्द्धारित सूत्रोंका प्रयोग करके देखा जाय तो अनेकानेक स्थलोंमें अति अपूर्व तात्पर्य प्रकट हो एवं उससे चिन्ताशील और अनुसन्धान करनेवाले अधिकारीके ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी वृद्धि होसकती है ।

परिशिष्ट (क) ।

स्त्री, शूद्र आदिका आचार ।

(पुस्तकके १०४ पृष्ठकी ९ वीं पंक्तिके आगे इसका सन्निवेश कर लेना चाहिये ।)

ब्राह्मणभिन्न अन्य तीनवर्णोंके लोग यथाशक्ति ब्राह्मणोंके आचरणका अनुसरण करें—यही आर्यशास्त्रका अभिमत है । स्त्रियाँ भी कनिष्ठ अधिकारी हैं, इस लिये शास्त्रमें उनको भी साधारणतः शूद्रोंके ऐसे आचरण करनेकी आज्ञा दी गई है । इस बात पर कुछ भी लक्ष्य करनेसे विदित होता है कि किसी प्रकारके पक्षपातके कारण ब्राह्मणोंके लिये ऐसी आचारपद्धति नहीं बनाई गई है । स्त्री और शूद्रोंके लिये निर्दिष्ट आचार ब्राह्मणोंके आचारकी अपेक्षा बहुत सहज है एवं उनको यथाशक्ति ही ब्राह्मणोंके आचारका अनुसरण करनेके लिये उपदेश दिया गया है ।

(१) शूद्रका प्रधानकर्म द्विजोंकी टहल सेवा है । वृत्तिस्वरूप कारु कार्य और पाक यज्ञ करनेका भी शूद्रको अधिकार है ।

(२) जो शूद्र विशुद्ध अन्न भोजन करता है, मद्य मांसका सेवन नहीं करता, द्विजातियोंका भक्त और बनियोंकी वृत्तिसे जीविकानिर्वाह करता है उसको सत्शूद्र कहते हैं ।

(३) शूद्रकी दी हुई तथा शूद्रके धनसे खरीदी गई भोजनकी सामग्री शूद्रका अन्न होनेके कारण दूषित है, किन्तु वही सामग्री ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत होने पर यज्ञके उपयोगी हो जाती है ।

(४) जो शूद्र दान करता रहता है, व्रत पालन करता है एवं ब्राह्मणों पर भक्ति रखता है उस शूद्रका दिया हुआ अन्न लेनेमें कोई दोष नहीं है ।

(५) वैदिक मन्त्र पढ़नेका शूद्रको अधिकार नहीं है । पौराणिक मन्त्र पढ़नेका शूद्रको अधिकार है । किन्तु पौराणिक मन्त्रोंसे भी पञ्चयज्ञ करनेका शूद्र को अधिकार नहीं है । शूद्रके अधिकांश वैध (विधिविहित) कार्य 'नमः' मन्त्रके द्वारा किये जाते हैं ।

(६) न्यायानुकूल चलनेवाला शूद्र कच्चे अन्न द्वारा 'नमः' मन्त्रका उच्चारण कर सामान्यश्राद्ध एवं वृद्धिश्राद्ध कर सक्ता है ।

दानप्रधानः शूद्रः स्यादित्याह भगवान्मनुः।
दानेन सर्वकामाप्तिरस्य संजायते यतः॥

शूद्रका मुख्यकर्म दान है, दानके ही द्वारा उसको सब फल प्राप्त होते हैं।

(७) शूद्रको चार अंगुल लंबी दतूनसे दन्तधावन करना चाहिये, ब्राह्मणकी दतूनके समान बारह अंगुलकी दतूनका व्यवहार करना उसके लिये निषिद्ध है।

(८) शूद्रको गोल बिन्दीका तिलक लगाना चाहिये।

(९) शूद्रके भोजनपात्रके नीचेका मण्डल गोल होना चाहिये।
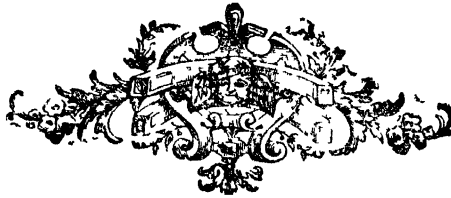
परिशिष्ट (ख)।

व्रत, पूजा आदिकी तालिका।

मास और तिथि।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है।
चैत्रशुक्ला प्रतिपदा	नवरात्रि व्रत	गौरी (तन्त्रोक्त)	वंग प्रदेश, उत्कल और मिथिलाको छोड़ कर अन्य सब प्रदेशोंमें किया जाता है; द्राविड़ और तैलंगदेशमें इसे दिन निम्बकुसुमभक्षण नाम व्रत होता है।
चैत्रशुक्ला द्वितीया	ब्रह्मव्रत	ब्रह्मा	विद्यामें पारदर्शी होनेके लिये किया जाता है। इस दिन प्रकृतिपुरुष नामक एक व्रतके करनेकी विधि है; उसमें लक्ष्मीनारायणकी पूजा करनी होती है। दोनो ही व्रत इस समय अप्रचलित हैं।
चैत्रशुक्ला पञ्चमी	पञ्च महाभूत व्रत	पञ्च महाभूत	द्राविड़ और तैलंग देशमें इसको लक्ष्मीपञ्चमी कहते हैं और पंजाब व कश्मीरमें सरस्वतीपञ्चमी कहते हैं। इस दिन पञ्चभूतात्मक विष्णुकी पूजा कर पञ्चमहाभूतका व्रत किया जाता है। इस समय यह व्रत अप्रचलित है।
चैत्रशुक्ला सप्तमी	वासन्तीपूजारम्भ	दुर्गा	यह व्रत केवल वंग और उत्कल देशमें प्रचलित है। द्राविड़, तैलंग और कर्णाट देशमें इस दिन सन्तानसप्तमी एवं पंजाब व कश्मीर तथा जम्बूमें गङ्गा सप्तमी होती है।
चैत्रशुक्ला अष्टमी	अन्नपूर्णापूजा	अन्नपूर्णा	वंग देशमें प्रचलित है। वंग देशमें तथा द्राविड़, कर्णाठ, उत्कल, तैलंग

			और मिथिलामें इस दिन अशोकाष्टमी होती है। इसको महाराष्ट्रमें अन्नपूर्णाष्टमी एवं जम्बू काश्मीर आदिस्थानोंमें दुर्गाष्टमी कहते हैं। इस दिन ब्रह्मपुत्र नदमें स्नान करनेकी एवं शोकरहित होनेकी कामनासे अशोककी कली पीनेकी विधि है।
चैत्रशुक्ला नवमी	रामनवमी	श्रीरामचन्द्र	सर्वत्र श्रीरामचन्द्रकी पूजा होती है। यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है।
चैत्रशुक्ला त्रयोदशी	मदनत्रयोदशी	मदनकी पूजा होती है	बंगाल और मिथिलामें इसको मदनत्रयोदशी कहते हैं और जम्बू, द्राविड़ कर्णाट, महीशूर तथा तैलंगमें अनंगत्रयोदशी कहते हैं।
चैत्र पूर्णिमा	रासयात्रा	विष्णु	केवल बङ्गालमें प्रचलित है, द्राविड़ देशमें इस पूर्णिमाको चित्रापूर्णिमा कहते हैं। गुजरातमें हनुमज्जयन्ती कहते हैं और हनुमान्की पूजा करते हैं। अन्यत्र प्रायः सर्वत्र मन्वादि कहकर प्रसिद्ध है।
वैशाखशुक्ला प्रतिपदा	वीरप्रतिपदा	ब्राह्मण	इस प्रतिपदासे लेकर एक वर्ष तक प्रतिमासके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन ब्राह्मण को क्षीरका भोजन कराया जाता है। नीचजातिके लोग और स्त्रियां उत्कर्ष प्राप्त करनेके लिये यह व्रत करते थे। इस समय अप्रचलित है।
वैशाख शुक्ला तृतीया	अक्षयतृतीया	विष्णु	यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है। कर्णाटकमें इस पर्वको बलरामजयन्ती कहते हैं, कर्णाटकवासी इस दिन बलरामकी पूजा करते हैं। बङ्गालमें इस दिन ब्राह्मण को केवल यव खिलानेकी एवं यवश्राद्ध, जलदान व पार्वण श्राद्ध आदि करनेकी विधि प्रचलित है। इसी दिन चन्दनयात्रा होती है। वंग देश व मिथिलाके लोग ऐसा मानते हैं कि इस दिन सत्ययुगकी उत्पत्ति हुई है। इसी दिन हिमाचल पर

मास और तिथि।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है।
			आकाशगंगाका अनतरण और नारायणकर्तृक यवादकी सृष्टि हुई है। महाराष्ट्र, गुजरात, तैलंग और जंबूके निवासियोंके मतमें इस दिन त्रेतायुगकी उत्पत्ति हुई है और इसी दिन परशुरामजीका जन्म हुआ है। वे लोग इस दिन परशुरामजीके उद्देश्यसे अर्घ्यदान करते हैं।
वैशाखशुक्ला सप्तमी	जन्हुसप्तमी	गङ्गा	कश्मीर और नेपालको छोड़कर भारतमें सर्वत्र प्रचलित है। जन्हु (जं वेगं न्हुते गोपयतीति जन्हुः) राजर्षिने भागीरथीको पीलिया था। भागलपुर ज़िलेमें जहां गंगागर्भमें तीन पहाड़ देखे जाते हैं वहीं राजर्षि जन्हुका आश्रम था।
वैशाखशुक्ला चतुर्दशी	नृसिंहचतुर्दशी	नृसिंहावतार	नेपाल, द्राविड़ और मिथिलाको छोड़ कर अन्य सब प्रदेशोंमें प्रचलित है। सब कामनाएँ पूर्ण होनेकी कामनासे यह व्रत किया जाता है। मध्यान्हके समय नृसिंह भगवान् की पूजा होती है। इसी दिन नृसिंहावतार हुआ था।
वैशाखी पूर्णिमा	चन्दनयात्रा फूलडोल	विष्णु	केवल बंगदेशमें ही प्रचलित है। द्राविड़ और तैलंगमें इस तिथिको व्यास पूर्णिमा होती है, व्यासदेवकी पूजा और दही अन्नका दान किया जाता है। गुजरात और महाराष्ट्रमें इस दिन कूर्मजयन्ती होती है। वहां इस दिन कच्छपावतार विष्णुकी पूजा की जाती है।
ज्येष्ठकृष्णा अष्टमी	त्रिलोचनाष्टमी	शिव	बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरातको छोड़ और कहीं नहीं प्रचलित है। महाराष्ट्र देशमें इसको शीतलाष्टमी कहते हैं और गुजरातमें इसका नाम कालाष्टमी

			है। इस दिन महाराष्ट्रमें शीतला देवी और गुजरातमें शिवजीकी पूजा होती है।
ज्येष्ठकृष्णा चतुर्दशी	सावित्रीचतुर्दशी	सावित्री सत्यवान्	बंगाल, जम्बू और मिथिलामें एक ही दिन यह व्रत होता है, विशेषता केवल यही है कि जम्बू और मिथिलामें इसको वटसावित्री कहते हैं। द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट और गुजरात प्रदेशमें ज्येष्ठ पूर्णिमाको वटसावित्रीका व्रत होता है। पूजाका प्रकरण प्रायः एक ही है।
ज्येष्ठशुक्ला तृतीया	रम्भाव्रत	हरगौरी	बंगाल, द्राविड़, जम्बू और कर्णाटक इन्हीं कई एक प्रदेशोंमें प्रचलित है। इस पर्वके दो दिन पहले अर्थात ज्येष्ठशुक्ला प्रतिपदाके दिन द्राविड़ देशमें बौद्ध जयन्ती नामसे और तैलंगमें कल्कि जयन्ती नामसे एक पर्व होता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें वहां बुद्ध और कल्कि देवकी पूजा तथा स्नान दान आदि किया जाता है।
ज्येष्ठशुक्ला चतुर्थी	उमाचतुर्थी	उमादेवी	केवल बंगालमें प्रचलित है। यही उमाजयन्ती या उमा देवीका जन्म दिन है। उमा (सती) जो दक्षकी सबसे छोटी कन्या हैं। इसी कारण राशिचक्रके सर्वशेषभागमें उनका स्थान है एवं वह शेषभाग ठीक हिमालय पर्वतके ऊपर है।
ज्येष्ठशुक्ला षष्ठी	अरण्यषष्ठी	षष्ठीदेवी	केवल बंगालमें यह पूजा होती है। द्राविड़ और तैलंगमें इसके पहले दिन अरण्यगौरी नाम एक पर्व होता है। उत्कलमें उसी दिन शीतलाष्टमी होती है। इस दिन स्त्रियां पंखा हाथमें लिये वनमें जाकर षष्ठी (गौरी) देवीकी पूजा करती हैं। बंगालमें इस दिन जामाताका आदर करना प्रसिद्ध है। अरण्य षष्ठी

मास और तिथि ।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
			व्रतकी कथासे स्पष्ट जाना जाता है कि मृतवत्सा स्त्रीके सन्तान जीवित होनेसे उसका बड़ाही आदर करना होता है ।
ज्येष्ठशुक्ला दशमी	दशहरा	गङ्गा	यह सब देशोंमें प्रचलित है । बंगाल और उत्कलमें गंगापूजके साथ मनसा देवीकी भी पूजा की जाती है । इस दिन गंगास्नान करनेसे दस प्रकारके पाप दूर हो जाते हैं । प्रसिद्ध है कि इसी दिन पृथ्वीतल पर गंगावतरण हुआ है । बर्फके ढेर गल कर गंगामें जो जलकी बाढ़ होती है सो स्थूलरूपसे कहा जा सकता है कि दशहराके दिनसे ही होती है । भारतवर्षमें गंगाके जलका बढ़ना यदि पर्व दिनका सूचक हो तो कोई विचित्र बात नहीं है । मिस्र देशमें नीलनदमें जब जलकी वृद्धि होती है तब वहांके लोग एक बड़ा उत्सव करते हैं । अन्य जातिके लोग जहां उत्सवमात्र करते हैं वहां धर्मनिष्ठ भारतवासियोंका व्रत और पूजा करना उनके लिये स्वाभाविक है ।
ज्येष्ठपूर्णिमा	स्नानयात्रा	जगन्नाथदेवका स्नान और विष्णुपूजा	इस दिन बंगालमें, विशेष कर उत्कलमें श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें महासमारोह होता है । द्राविड़ आदि अन्य सब प्रदेशोंमें इस तिथिको मन्वादि कहते हैं ।
आषाढशुक्ला द्वितीया	रथयात्रा	श्रीजगन्नाथ देवका रथारोहण और विष्णुपूजा	बंगाल, जम्बू, महाराष्ट्र, उत्कल और युक्त प्रान्तमें प्रचलित है । इस दिन बंगालमें मनोरथ द्वितीयाका व्रत किया जाता है । इस व्रतमें कृष्णदेवकी पूजा होती है । द्राविड़ और तैलंगमें इसको भ्रातृद्वितीया कहते हैं । रथयात्रा, सूर्यके

			उत्तरायणकी सीमा समाप्तकर दक्षिणायनमें प्रवेश करनेकी सूचना है यह बात सहज़ ही जानी जाती है ।
आषाढशुक्ला दशमी	आशादशमी	आशादेवी	भविष्योत्तरपुराणमें इस व्रतका वर्णन है । दाक्षिणात्यमें यह व्रत प्रचलित है । दमयन्तीने फिरसे नलको पानेके लिये यह व्रत किया था ।
आषाढशुक्ला एकादशी	देवशयनैकादशी	विष्णु	सर्वत्र प्रचलित है, इस दिनसे चातुर्मास्य व्रतका आरम्भ होता है । द्राविड़ कर्णाट और तैलंगमें इस दिन गोपद्म व्रत किया जाता है, विष्णुकी पूजा होती है । महाराष्ट्र लोग इस दिन कोकिलाव्रत करते हैं । इस व्रतकी उपास्यदेवता गौरी देवी हैं ।
आषाढपूर्णिमा	व्यासपूजा	गुरु	युक्तप्रान्तमें इस दिन गुरुपूजा होती है ।
श्रावणकृष्णा द्वितीया	अशून्यशयनव्रत	विष्णु	बंगाल, महाराष्ट्र और मिथिलामें प्रचलित है । द्राविड़, तैलंग और महाराष्ट्रमें यही व्रत गौणरूपसे भाद्रकृष्णा द्वितीयाके दिन किया जाता है ।
श्रावणकृष्णा पञ्चमी	नागपञ्चमी	अष्टनागसहित मनसा देवी	केवल बंगाल और उत्कलमें प्रचलित है । मिथिलामें इसको मौनीपञ्चमी कहते हैं । श्रावणके शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे लेकर द्वादशी तक प्रायः प्रतिदिन दक्षिणमें एक न एक व्रत करनेकी विधि है । उन व्रतोंमेंसे अब कोई प्रचलित हैं और कोई अप्रचलित हैं । इनमेंसे किसीमें विष्णुकी, किसीमें नागोंकी और किसीमें गणेशकी पूजा होती है । नागपूजा और गणेशपूजाके समय वहां महा समारोह होता है ।
श्रावणकृष्णा चतुर्दशी	अघोरचतुर्दशी	शिव	बंगालमें प्रचलित है । जंबू और कश्मीरमें इस व्रतका नाम भद्रकाली चतु-

मास और तिथि ।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
			दर्शी है, वहां इस दिन कालीपूजा होतीहै । मिथिलामें इस दिन महाभैरवकी पूजा होती है ।
श्रावणी अमावास्या	अलोकामावास्या	लक्ष्मीनारायण	बंगालमें प्रचलित है । नेपाल, महाराष्ट्र और कर्णाट इसको कुशग्रहणी कहते हैं । बंगालमें भी इस दिन कुश खोद कर लाये जाते हैं । युक्त प्रान्तमें भाद्रकृष्ण अमावास्याको कुशग्रहणकृत्य सम्पन्न होता है ।
श्रावणशुक्ला पञ्चमी	नागपञ्चमी	अष्टनाग सहित मनसा देवी	सर्वत्र प्रचलित है । कर्णाटमें इस दिन चित्रनेमि नाम व्रत किया जाता है । द्राविड़ और उत्कलमें इसको गुरुपञ्चमी कहते हैं और गौरी तथा लक्ष्मीकी पूजा करते हैं ।
श्रावणपूर्णिमा	उपाकर्म, रक्षाबन्धन (यजु)	वेदके काण्डविशेषका अध्ययन एवं उसके अंग स्वरूप पूजा आदि	बंगालको छोड़ कर सर्वत्र प्रचलित है । नेपाल, जंबू, पंजाब, काश्मीर और मिथिलामें इसको ऋषितर्पणी कहते हैं और इस दिन ऋषियोंका तर्पण करते हैं । महाराष्ट्र और तैलंगमें इसको हयग्रीवजयन्ती कहते हैं और भगवान् हयग्रीवकी पूजा करते हैं । उत्कलमें बलभद्रजयन्ती कहते और बलभद्रकी पूजा करते हैं ।
भाद्रकृष्णा द्वितीया	अशून्यशयन व्रत	विष्णु	बंगाल, महाराष्ट्र और मिथिलामें प्रचलित है । द्राविड़, तैलंग एवं महाराष्ट्र में यही व्रत गौणरूपसे आश्विन कृष्णा द्वितीयाके दिन किया जाता है ।
भाद्रकृष्णा अष्टमी	जन्माष्टमी	श्रीकृष्ण व उनके आवरण वासुदेव आदि की पूजा होती है ।	सब देशोंमें प्रचलित है ।

भाद्रकृष्णा चतुर्दशी	अघोर चतुर्दशी	शिव	बंगालमें प्रचलित है। जंबू, काश्मीरमें इस व्रतको भद्रकालीचतुर्दशी कहते हैं, इस दिन भद्रकालीकी पूजा की जाती है। मिथिलामें इस दिन महाभैरवकी पूजा होती है।
२५ भाद्र अमावास्या	अलोकामावास्या	लक्ष्मीनारायण	बंगालमें प्रचलित है। नेपाल, महाराष्ट्र, कर्णाट, युक्तप्रान्त आदिमें इस अमावास्याको कुशोत्तोलनी या कुशग्रहणी कहते हैं। बंगालमें भी इस दिन कुश खोदकर घर लाये जाते हैं।
भाद्रशुक्ल तृतीया	हरितालिकाव्रत	भवानीशङ्कर	सर्वत्र प्रचलित है। द्राविड़ और तैलंगमें इस दिन बलरामजयन्ती मनाई जाती है और स्वर्णगौरी व्रत होता है। कर्णाटकमें केवल स्वर्णगौरी व्रत होता है। उत्कलमें गौरीव्रत होता है। महाराष्ट्रमें इस दिन वराहजयन्ती होती है। मिथिलामें इसको मन्वादि कहते हैं।
भाद्रशुक्ला चतुर्थी	शिवाचतुर्थी व्रत	शिवा शिव	इस दिन बंगालमें शिवाचतुर्थी एवं पंजाब और काश्मीरमें गणेशका जन्मोत्सव तथा कर्णाट, गुजरात, तैलंग, उत्कल, मिथिला और काशीमें सिद्धिविनायक गणेशव्रत किया जाता है। इस दिन चन्द्रदर्शन न करना चाहिये। इसे पत्थरा चौथ भी कहते हैं।
भाद्रशुक्ला पंचमी	ऋषिपञ्चमी	सप्त ऋषि	सर्वत्र प्रचलित है। इस दिन अरुन्धतीसहित सप्त ऋषियोंकी पूजा की जाती है। यह व्रत सात वर्ष करनेसे पूर्ण होता है। इस दिन आलेख्यपञ्चमी नामक और एक व्रत करनेकी विधि है। इस व्रतमें तक्षक आदि नागोंकी तुष्टिके लिये ब्राह्मणका चित्र बनाकर उसकी पूजा करनी होती है। इस समय यह व्रत अप्रचलित है।

मास और तिथि।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है।	किस प्रदेशमें किस भाँति किया जाता है।
भाद्रशुक्का षष्ठी	चपेटा षष्ठी	षष्ठी	इस व्रतको बंगालमें चपेटा षष्ठी, मिथिलामें पर्पट षष्ठी और महाराष्ट्रमें सूर्यषष्ठी कहते हैं। अन्यत्र प्रचलित नहीं है।
भाद्रशुक्का सप्तमी	कुक्कुटी सप्तमी या ललितासप्तमी	दुर्गा शिव	बंगाल और उत्कलमें ललितासप्तमी कहते हैं। गुजरात और महाराष्ट्रमें इस दिन केवल गौरीव्रत किया जाता है। द्राविड़ और तैलंगमें अमुक्ताभरण व्रत (देवकीने मतवत्सा दोषकी शान्तिके लिये यह भविष्यपुराणोक्त व्रत किया था) होता है। दाक्षिणात्यमें इस तिथिको अचलासप्तमी, फलसप्तमी, पुत्रसप्तमी अनन्तफलसप्तमी नामक कई एक व्रत किये जाते हैं। इन सबमें सूर्यदेवकी पूजा होती है। अचलासप्तमी इस समय भी दाक्षिणात्यमें प्रचलित है, और सब व्रत अप्रचलित हैं।
भाद्रशुक्काष्टमी	दूर्वाष्टमी महालक्ष्मी व्रत	लक्ष्मीनारायण और दूर्वा	बंगालमें दूर्वाष्टमी होती है। काश्मीरमें इस दिनसे चतुर्दशी तक किसी एक दिन महालक्ष्मी देवीकी पूजा होती है। महाराष्ट्र और गुजरातमें षष्ठीके दिन गौरी देवीका आवाहन कर सप्तमीको पूजन और अष्टमीको विसर्जन किया जाता है एवं इसके सिवाय अन्नपूर्णाकी पूजा और महालक्ष्मीकी यात्रा महासमारोहसे की जाती है। कर्णाट और तैलंगमें इस दिन ज्येष्ठाव्रत होता है। उत्कलमें और बंगालमें इस दिन दुर्गाष्टमी होनेके कारण दुर्गापूजन एवं राधाजन्माष्टमी होनेके कारण राधाजीका पूजन होता है। मिथिलामें इस दिन गोष्ठाष्टमी होती है, महालक्ष्मीका व्रत किया जाता है और कथा सुनी जाती है। पुत्र पौत्रादिके लाभ

			की कामनासे हविष्य भोजन कर ज्येष्ठा नक्षत्रमें तीन दिन ज्येष्ठा देवीकी पूजा करनी होती है। इनके स्तवमें लक्ष्मी, सरस्वती और उमा तीनोंके स्तव मिश्रित हैं।
भाद्रशुक्ला नवमी	तालनवमी	लक्ष्मीनारायण	केवल बंगदेशमें प्रचलित है।
भाद्रशुक्ला दशमी	दशावतार व्रत	दशावतार पूजा	केवल दाक्षिणात्यमें प्रचलित है।
भाद्रशुक्ला एकादशी	परिवर्तिनी एकादशी	विष्णु	सर्वत्र प्रचलित है।
भाद्रशुक्ला द्वादशी (श्रवणनक्षत्रयुक्ता)	श्रवणा द्वादशी	विष्णु	सर्वत्र प्रचलित है। महाराष्ट्रमें वामन जयन्ती और गुजरात, जम्बू, पंजाब व काश्मीरमें वामन द्वादशी कहते हैं और वामनावतारकी पूजा करते हैं।
भाद्रशुक्ला चतुर्दशी	अनन्त चतुर्दशी व्रत	अनन्त विष्णु	सर्वत्र प्रचलित है।
भाद्रपूर्णिमा	उमामहेश्वर व्रत	शिव गौरी	द्राविड़, कर्णाट और तैलंग देशमें प्रचलित है।
आश्विनकृष्णाप्रतिपदा	पितृपक्षप्रारम्भ	पितृगणके उद्देश्यसे श्राद्ध तर्पण आदि	प्रतिपदासे लेकर अमावास्या तक पितृपक्ष रहता है। इस अमावास्याको महालयाह कहते हैं। पितृपक्षके कृत्य श्राद्ध तर्पण ब्राह्मणभोजनादि सर्वत्र हिन्दू मात्रमें प्रचलित हैं।
आश्विनकृष्णा अष्टमी	महालक्ष्मी व्रत	महालक्ष्मी पूजा	युक्तप्रान्तमें प्रचलित है। स्त्रियाँ व्रत और महालक्ष्मीकी पूजा करती हैं।
आश्विनशुक्ला प्रतिपदा	नवरात्रारम्भ	दुर्गा	प्रतिपदासे नवमी तक नव दिनको नवरात्र कहते हैं। बंगालको छोड़ कर अन्यत्र दुर्गाप्रतिमाकी स्थापना और पूजाका नियम नहीं है, किन्तु इस प्रतिपदा

मास और तिथि ।	व्रत व पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
			से आरम्भ कर नव दिनोंतक प्रायः सर्वत्र ही घटस्थापन, देवीपूजन और चण्डीपाठ किया कराया जाता है । नवरात्रके समय द्राविड़में वेङ्कटेश विष्णुकी पूजा, पञ्चमीके दिन उपाङ्गललिता व्रत, सप्तमीके दिन पुस्तकमण्डल और सरस्वतीकी पूजा, अष्टमीके दिन दुर्गाष्टमीको दुर्गापूजा और महानवमीको देवीके अश्व आयुधादिकी पूजा की जाती है । नेपालमें सप्तमीके दिन पत्रिकाप्रवेशन, अष्टमी व नवमीके दिन महाष्टमी व नवमीके कृत्य तथा दुर्गापूजन होता है । जंबूमें नवरात्रके अन्तर्गत सरस्वतीशयन नामक एक पर्व होता है और दुर्गाष्टमीके दिन दुर्गापूजा भी की जाती है । यहां महानवमीको मन्वादि मानते हैं । पंजाब और काश्मीरमें इस उपलक्ष्यमें सरस्वती और दुर्गाकी पूजा की जाती है । महाराष्ट्रमें इस समय सरस्वती व दुर्गाकी पूजा, सरस्वतीके निकट बलिदान और देवीका विसर्जन किया जाता है । यहां भी मन्वादि कहते हैं । इसके सिवाय ललिताविनायकीव्रत और मातामहश्राद्ध करनेकी भी विधि है । कर्णाटमें वेदादिपाठ, उपाङ्गललिता व्रत तथा सरस्वती, दुर्गा और अश्व आयुधादिकी पूजाका नियम है । गुजरातमें महालक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा एवं अश्व आयुधादिकी पूजा करनेका नियम है । विनायक और ललिताका व्रत तथा मातामहका श्राद्ध भी किया जाता है । तैलंगमें दुर्गा और सरस्वतीकी पूजा और उपाङ्गललिता व स्थानवृद्धि गौरीका व्रत होता है । महानवमीको मन्वादि कहते हैं और दुर्गाष्टमीको कालिकाष्टमी कहते हैं । उत्कलमें दुर्गापूजा होती है और महाष्टमीके दिन महाष्टमी व्रत एवं

			महानिशाको बलि देनेका नियम है। मिथिलामें प्रतिपदाके दिन कलशस्थापन कर द्वितीयाके दिन रेमन्तकी पूजा करते हैं। षष्ठीके दिन गजपूजा और बिल्वाभिमन्त्रण, सप्तमीके दिन पत्रिकाप्रवेशन, अष्टमीके दिन महाष्टमी व्रत एवं महानवमीके दिन त्रिशूलिनी देवीकी पूजाका नियम है। महानवमीको यहां भी मन्वादि कहते हैं।
आश्विनशुक्ला दशमी	विजयादशमी (दशहरा)	सरस्वती	सर्वत्र प्रचलित है। द्राविड़में इस दिन द्वितलव्रतका आरंभ होता है। महाराष्ट्र और गुजरातमें इस दिनको बौद्धजयन्ती कहते हैं। मिथिलामें इस दिन अपराजिता देवीकी पूजा होती है।
आश्विनपूर्णिमा	कोजागर व्रत	लक्ष्मी	सब देशोंमें प्रचलित है। रातको लक्ष्मी पूजा और नारियलका पानी पीनेकी विधि है। इस दिन शक्रव्रत नाम एक और व्रत करनेकी विधि है। यह व्रत इन्द्रलोकप्राप्तिकी कामनासे एक वर्षतक करना होता है। इसमें इन्द्रदेवकी पूजा होती है। इस समय अप्रचलित है।
कार्तिककृष्णा चतुर्थी	गणेशचतुर्थी (करवा चौथ)	गणेशपूजन	इस दिन स्त्रियां गणेशपूजन और व्रत करती हैं। चन्द्रोदय होने पर भोजन किया जाता है।
कार्तिककृष्णा अष्टमी	अहोई आठें	अहोई देवी	स्त्रियोंका व्रत है।
कार्तिककृष्णा द्वादशी	गोवत्स द्वादशी	गोवत्स	स्त्रियां गोवत्सकी पूजा करती हैं।
कार्तिककृष्णा त्रयोदशी	धनतेरस	लक्ष्मी आवाहन	इस दिन दीपोत्सव होता है। नवीन पात्र आदि खरीदे जाते हैं।

मास और तिथि ।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
कार्तिककृष्णा चतुर्दशी	भूतचतुर्दशी या नरक चतुर्दशी	चतुर्दशयम	बंगालमें इस दिन चतुर्दशयमपूजा, अपामार्गभ्रामण, उल्कादान, चतुर्दश शाकभोजन और दीपदान आदि किया जाता है। द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट, गुजरात और तैलंग तथा युक्तप्रान्तमें इसको नरक चतुर्दशी कहते हैं। वहां इस दिन यमआदिका तर्पण किया जाता है। युक्तप्रान्तमें यमतर्पण, दीपदान, अपामार्गभ्रामण, अभ्यङ्ग, स्नान आदि किया जाता है। उत्कलमें यमतर्पण और अपामार्गभ्रामण होता है। युक्तप्रान्तमें इस दिन हनुमज्जयन्ती भी मनाई जाती है।
कार्तिकी अमावास्या	दीपमालिका या श्यामापूजा	लक्ष्मी एवं काली	बंगालमें इस दिन दीपान्वितकृत्य होता है। प्रदोषसमयमें लक्ष्मीपूजा होती है। यह दीपावली बालना और लक्ष्मीपूजा सर्वत्र प्रचलित है। केवल द्राविड़ और तैलंगमें इसको धनलक्ष्मीपूजा कहते हैं।
कार्तिकशुक्ला प्रतिपदा	द्यूतप्रतिपदा	बलिराजा	द्राविड़ और तैलंगमें इस दिन राजा बलिकी पूजा होती है। महाराष्ट्र, कर्णाट एवं गुजरातमें भी बलिपूजाकी विधि प्रचलित है; इन देशोंमें गोक्रीडा नाम एक और भी पर्व इस दिन होता है। इसके अतिरिक्त कर्णाटदेशमें दीपावलीदान और कामधेनुपूजा एवं तैलंगमें केवल दीपावलीदान होता है। युक्तप्रान्त, नेपाल और उत्कलमें इस दिन गोवर्द्धनपूजा होती है। युक्तप्रान्त, पंजाब और काश्मीरमें इस दिन अन्नकूट नाम एक पर्व होता है। मिथिलामें गोक्रीड़ा और बह्न्युत्थान होता है।
कार्तिकशुक्ला द्वितीया	भातृ द्वितीया या यम द्वितीया	यम यमुना व चित्रगुप्त	सर्वत्र प्रचलित है। वस्त्र आभूषण द्वारा भगिनीकी पूजा की जाती है और

			भाई अपनी भगिनीसे तिलक लगवाता है और भोजन करता है। इस दिन पुष्प द्वितीया नाम एक और व्रत भी किया जाता है। इस व्रतमें सेठ-व्रता, अरोगिता एवं वंशवृद्धिकी कामनासे केवल कोई फूल खाकर अश्विनीकुमार देवकी पूजा की जाती है। इस समय यह व्रत अप्रचलित है। युक्तप्रान्त बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और तैलंगमें इस द्वितीयाको यमद्वितीया भी कहते हैं। इस दिन यमुनामें स्नान करनेसे यमका भय नहीं रहता। इस दिन यमुनाने अपने भाई यमसे यही वर मांगा था। तैलंगमें इस दिन "लिंगराज प्रभुकी यात्रा" नामसे एक और पर्व होता है।
कार्तिकशुक्लाष्टमी	गोपाष्टमी	धेनु	द्राविड़, तैलंग और उत्कलमें इस दिन गोपूजा की जाती है। गोपूजन और गऊका अनुगमन किया जाता है। जम्बू, पंजाब, काश्मीर और महाराष्ट्रमें इसे गोपाष्टमी कहते हैं।
कार्तिकशुक्ला नवमी	दुर्गानवमी पिष्ठाच व्रत	जगद्धात्री	बंगाल और मिथिलामें यह पूजा प्रचलित है। नेपालमें इसको कूष्माण्ड नवमी कहते हैं। जम्बू, पञ्जाब और काश्मीरमें 'परिक्रमणा' नाम एक पर्व होता है। महाराष्ट्र कर्णाट, गुजरात और तैलंगमें इस दिनको सत्ययुगके प्रारंभका दिन मानते हैं। मिथिला, बंगाल और उत्कलमें इस दिनको त्रेतायुगका आदि दिन मानते हैं। मिथिलामें इस नवमीको आमलकनवमी या धात्रीनवमी कहते हैं। उत्कल व युक्तप्रान्तमें इस दिन अक्षयनवमी नामक व्रत भी किया जाता है। उत्कलमें इस दिन रासयात्राका आरंभ होता है। दाक्षिणात्यमें इस दिन विष्णुपूजा और कूष्माण्डदान किया जाता है॥
कार्तिकशुक्ला एकादशी	प्रबोधिनी एकादशीका व्रत	विष्णु	शास्त्रमें प्रसिद्ध है कि इस दिन विष्णुदेव शयनसे उठते हैं। द्राविड़, नेपाल

मास और तिथि।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है।
			और जम्बूको छोड़कर और प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। पंजाबमें इस एकादशीको 'हरिप्रबोधिनी' तथा काश्मीर, गुजरात व कर्णाटमें केवल 'प्रबोधिनी' एवं बंगालमें 'उत्थानैकादशी' कहते हैं। पंजाब और महाराष्ट्रमें इस एकादशीसे पूर्णिमा पर्यन्त पांच दिनको भीष्मपंचक कहते हैं तथा उत्कलमें भी बकपञ्चक या भीष्म-पंचक कहते हैं। युक्तप्रान्त, महाराष्ट्र, गुजरात, तैलंग और उत्कलमें एकादशीके दूसरे दिन द्वादशीको चातुर्मास्य व्रत समाप्त होता है। महाराष्ट्रमें इसके सिवाय इस दिन तुलसीविवाह (प्रबोधिनी), कर्णाटमें पुष्पवृन्दावनोत्सव, द्राविड़ और तैलंगमें चीरसागरपूजा एवं उत्कलमें उत्थानयात्रा पर्व होता है। मिथिलामें इसको देवोत्थानैकादशी कहते हैं। गुजरातमें उत्थानद्वादशीके दिन तुलसीका विवाह होता है।
कार्तिकशुक्ला चतुर्दशी	पाषाणचतुर्दशीव्रत	भैरी	बंगालमें पाषाण चतुर्दशी और द्राविड़, कर्णाट, महाराष्ट्र, तैलंग व युक्त-प्रान्तमें वैकुण्ठचतुर्दशी कहते हैं। शिव या विष्णुकी पूजा होती है। जम्बूमें इसको ब्रह्मकूर्च्च कहते हैं। उत्कलमें इस दिन लिङ्गराजकी उत्थानयात्रा होती है।
कार्त्तिककी पूर्णिमा	रासपूर्णिमा	विष्णु	बंगाल और उत्कलमें इस दिन रासयात्रा होती है। बंगाल व उत्कलमें इसे व्यासपूर्णिमा कहते हैं और व्यासदेवकी पूजा करते हैं। महाराष्ट्र, कर्णाट और तैलंगमें तथा मिथिलामें इसे मन्वादि मानते हैं। मिथिलामें "इस दिन

			सब देवता शयनसे उठते हैं" ऐसा माना जाता है। उत्कलमें इस दिन रास-यात्राकी समाप्ति एवं गोस्वामीमतसे धात्रीव्रत होता है। दाक्षिणात्यमें इस दिन त्रिपुरोत्सवनामक पर्व होता है। इस दिन महादेवका पूजन और सायंकाल को दीपदान होता है। युक्तप्रान्त आदिमें इस दिन गंगास्नानका बड़ा माहात्म्य माना जाता है। रात्रिको स्त्रियां तुलसीपूजन भी करती हैं।
आग्रहायणकृष्णाष्टमी	भैरवाष्टमी	भैरव	युक्तप्रान्तमें प्रचलित है। इस दिन भगवान् भैरवका व्रत, पूजन और उसके उपलक्ष्यमें शृंगार व उत्सव किया जाता है।
आग्रहायणशुक्ला पञ्चमी	प्रावरणयात्रा	विष्णु	केवल वंगदेशमें प्रचलित है। द्राविड़, और तैलंगमें इस दिन धटरीगौरी व्रत और महाराष्ट्रमें नागपञ्चमी व्रत एवं उत्कलमें गुरुपञ्चमी व्रत होता है।
आग्रहायणशुक्ला षष्ठी	गुहषष्ठी	कार्तिकेय	केवल वंगदेशमें प्रचलित है। द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट, गुजरात और तैलंगमें इसे चंपाषष्ठी भी कहते हैं।
आग्रहायणशुक्ला सप्तमी			इस दिन अनेक व्रत किये जाते थे किन्तु अब अप्रचलित हो गये हैं। वे व्रत ये हैं-चित्रभानुव्रत (अग्नि, सूर्य और चन्द्रकी पूजा)। शैलव्रत, सरिद्व्रत, मुनिव्रत (किसी अभीष्ट पर्वत, नदी या मुनिकी पूजा)। वायुव्रत (वायुकी पूजा) सुगतिव्रत (इन्द्रकी पूजा)। सप्तमीलोकव्रत (सप्तलोककी पूजा)। भास्कर व्रत (सूर्यकी पूजा)। वन्हिव्रत (अग्निकी पूजा)।
आग्रहायणशुक्ला द्वादशी	अखण्ड द्वादशी व्रत	विष्णु	वंग, द्राविड़ और तैलंगमें प्रचलित है। द्राविड़में इस दिन और तैलंगमें इसके दूसरे दिन हनुमज्जयन्ती मनाई जाती है। मिथिलामें इसे केशवद्वादशी और उत्कलमें खञ्जनद्वादशी कहते हैं।

मास और तिथि ।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें क्रिया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
पौषकृष्णाष्टमी	अष्टका श्राद्ध पूर्वाष्टका	पितृदेव	बंगाल, द्राविड़, तैलंग, उत्कल और मिथिलामें प्रचलित है। द्राविड़, महाराष्ट्र और गुजरातमें इस तिथिको कालभैरवाष्टमी कहते हैं। उत्कल और मिथिलामें अष्टकाश्राद्धके दूसरे दिन अन्वष्टका श्राद्ध एवं उसके दूसरे दिन उपाष्टका श्राद्ध किया जाता है।
पौषशुक्लाष्टमी	अन्नपूर्णाष्टमीव्रत	अन्नपूर्णा	महाराष्ट्रमें प्रचलित है। इसे गुजरातमें दुर्गाष्टमी, तैलंगमें सावित्री गौरी, उत्कलमें भद्राष्टमी और मिथिलामें अष्टलक्ष्म्याष्टमी कहते हैं।
पौषपूर्णिमा	स्नानयात्रा	विष्णु	बंगाल और उत्कलमें प्रचलित है।
माघकृष्णाचतुर्थी	संकष्ट चतुर्थी	गणेश	गणेशजीका व्रत और पूजन किया जाता है। युक्तप्रान्त आदिमें प्रचलित है।
माघकृष्णाष्टमी	मांसाष्टका श्राद्ध	पितृदेव	सब देशोंमें प्रचलित है।
माघकृष्णैकादशी	षट्तिला	विष्णु	इस दिन व्रत, पूजन और तिलभोजनका बड़ा माहात्म्य है।
माघकृष्णाचतुर्दशी	रटन्ती चतुर्दशी	रटन्तीकालिकापूजा	केवल बंगाल और उत्कलमें प्रचलित है।
माघी अमावास्या	मौनी अमावास्या	विष्णु	यह स्नानपर्व है। इस दिन स्नानपर्यन्त मौनव्रत धारण किया जाता है। स्नान दानका बड़ा माहात्म्य है।

माघशुक्ला चतुर्थी	वरदाचतुर्थी	गौरी	इस दिन बंगाल और मिथिलामें विनायक व्रत भी होता है और गणेशपूजा होती है। वाराणसी प्रदेशमें ढुंढिराज गणेशकी पूजा होती है। द्राविड़में इस तिथिको तिलचतुर्थी और महाराष्ट्रमें कुन्दचतुर्थी कहते हैं।
माघशुक्ला पञ्चमी	श्रीपञ्चमी या वसन्तोत्सव	सरस्वती व लक्ष्मीकी पूजा होती है।	बंगदेश व उत्कलमें प्रचलित है। तैलंग और द्राविड़में इसे लक्ष्मीपञ्चमी कहते हैं। अन्यत्र युक्तप्रान्त आदिमें इसे वसन्तपञ्चमी कहते हैं और विष्णुकी पूजा व वसन्तोत्सव करते हैं।
माघशुक्ला षष्ठी	शीतलाषष्ठी	षष्ठी	बंगदेशमें शीतला षष्ठी और तैलंगमें कुमारषष्ठी कहते हैं।
माघशुक्ला सप्तमी	आरोग्यसप्तमी	सूर्य	बंगदेशमें प्रचलित है। दाक्षिणात्यमें रथसप्तमी (सूर्यकी पूजा) और नेपाल व काश्मीरमें तथा पंजाबमें अचलासप्तमी (महादेवकी पूजा) कहते हैं।
[illegible]घशुक्लाष्टमी	भीष्माष्टमी	भीष्म	भीष्मपितामहके उद्देश्यसे तर्पण किया जाता है। सर्वत्र प्रचलित है।
[illegible]ा	सोमव्रत	चन्द्र	चन्द्रदेवकी पूजा कर कण्या गऊका दान किया जाता है। इस समय अप्रचलित है। अन्यान्य प्रदेशोंमें इस दिन स्नानदानादि किया जाता है।
	शिवरात्र	शिव	शिवपूजन और व्रत किया जाता है। सर्वत्र प्रचलित है।
	[illegible]र सप्तमी	सूर्य	एक वर्षमें यह व्रत समाप्त होता है। प्रथम चार मास तक उक्त तिथिमें गोबर खानेकी विधि है। मध्यके चार मास तक गोमूत्र और अन्तके चार मास तक खीर खाना चाहिये। इस समय अप्रचलित है।

मास और तिथि ।	व्रत या पूजाका नाम	किस देवताके उपलक्ष्यमें किया जाता है ।	किस प्रदेशमें किस भांति किया जाता है ।
फाल्गुणशुक्ला द्वादशी	सुगति व्रत	विष्णु	एक वर्षमें यह व्रत पूर्ण होता है। उत्तम गतिकी कामनासे एकादशीको उपवास कर द्वादशीके दिन विष्णुपूजा और त्रयोदशीको पारण किया जाता है। इस समय अप्रचलित है। पुष्यनक्षत्रयुक्त द्वादशी होनेसे बंगाल और मिथिलामें इसको गोविन्दद्वादशी और तैलंगमें नरसिंहद्वादशी कहते हैं।
फाल्गुणशुक्ला त्रयोदशी	त्रयोदशी व्रत	विष्णु और लक्ष्मी	पुत्रप्राप्तिकी कामनासे बन्ध्या स्त्रियाँ इस व्रतको करती हैं। अष्टदल पद्म पर विष्णु और लक्ष्मीकी पूजा कर कैथेके बराबर माखनका पिंड बनाकर स्वामीके साथ 'यस्त्वन्तरात्मा भूतानां' इत्यादि मन्त्र पढ़ कर स्त्री उस नवनीतपिण्डको भोजन करती है। इस समय अप्रचलित है।
फाल्गुणी पूर्णिमा	दोलयात्रा	श्रीकृष्ण	बंगाल और उत्कलमें दोलयात्रा और अन्यत्र सर्वत्र होलिकोत्सव कहते हैं। महाराष्ट्र, कर्णाट, गुजरात, उत्कल और मिथिलामें इस तिथिको मन्वादि मानते हैं। मिथिलामें इस दिनको कलियुगान्त भी कहते हैं।
चैत्रकृष्णाष्टमी	शाकाष्टका	शाक द्वारा पितृगणका पार्वण श्राद्ध किया जाता है।	बंगाल, द्राविड़, उत्कल और मिथिलामें प्रचलित है। द्राविड़, उत्कल और तैलंगमें इस दिन सीताव्रत नाम एक व्रत भी किया जाता है। महाराष्ट्रमें इस दिन जानकीजन्मदिन मानकर उत्सव किया जाता है। जंबूमें इसको जानकयष्टमी कहते हैं। गुजरात और महाराष्ट्रमें कालाष्टमी भी कहते हैं और कालभैरवकी पूजा करते हैं। काश्मीरमें इसको 'होरा इठं हेयत्' अर्थात घरको साफ़ करनेका दिन कहते हैं। युक्तप्रान्तमें शीतलाष्टमी कहते हैं और शीतलापूजन और कुमारिकाभोजन आदि किया जाता है।
चैत्रकृष्णा त्रयोदशी	वारुणी	पर्वयोग	इस दिन गंगास्नान दान आदिका अतुल माहात्म्य है। जम्बू, पंजाब, काश्मीर और कर्णाटको छोड़कर सर्वत्र प्रचलित है।

प्रतिमासकी अष्टमी चतुर्दशी	नक्तव्रत	महादेव	सर्वत्र प्रचलित है।
शनिवार और सोमवार युक्तप्रतिमासकी त्रयोदशी	शनिप्रदोष सोमप्रदोष	शिव	दिन भर उपवास कर प्रदोषके समय शिवपूजन किया जाता है।
कार्तिक वा श्रावणका शनिवारयुक्त त्रयोदशी	शनिव्रत	शनिग्रह	दिनको उपवास कर सायंकालको शनि ग्रहकी शान्तिके लिये पूजा की जाती है, मन्त्र जपा जाता है और कथा सुनी जाती है। यह दाक्षिणात्यमें प्रचलित है।
सोमवारयुक्त (प्रतिमास की) अमावास्या	सोमवती	लक्ष्मीनारायण	सब प्रदेशोंमें स्नान दान और व्रत किया जाता है। यह व्रत बारह वर्षमें पूर्ण होता है। दाक्षिणात्यमें विशेष विधिसे किया जाता है।
शुक्लपक्षकी सप्तमी	सप्तमीस्नापन	रुद्र व सूर्य	मृतवत्सा स्त्रीके सन्तान होनेके उपरान्त सातवें महीने अथवा प्रसवके उपरान्तही किसी मासकी शुक्लसप्तमीको केलेके जलसे प्रसूतिको स्नान कराया जाता है, फिर लाल रंगसे रंगे हुए चावलोंसे देवपूजन तथा पलाश काष्ठसे हवन किया जाता है। इस समय अप्रचलित है।
प्रतिमासकी एकादशी	एकादशी व्रत	विष्णु	सर्वत्र प्रचलित है। सर्वत्र साधारणतः नर नारी इस दिन व्रत फलाहार करते हैं। विष्णुपूजा करते हैं एकादशीकी कथा सुनते हैं। अन्यत्र जो लोग निराहार उपवास करनेमें अशक्त हैं वे फलाहार कर लेते हैं किन्तु वंगदेशमें नवद्वीप और मध्यदेशीय समाज एवं भट्टपल्ली कलकत्ता आदि दक्षिणदेशीयसमाजके अन्तर्भुक्त सब स्थानोंमें विशेष कर विधवाओंके लिये अनुकल्परूप फलाहारकी व्यवस्था नहीं है।
प्रतिमासकी पूर्णिमा	सत्यनारायणव्रत	विष्णु	सत्यनारायण विष्णुका व्रत, पूजा, कथाश्रवण, ब्राह्मणभोजन आदिकी विधि है। प्रायः लोग कोई कामना पूर्ण होनेके लिये प्रति पूर्णिमाको यह व्रत करनेका नियम लेते हैं।

संक्रान्तिकृत्य ।

मास व संक्रान्ति	व्रत पूजा व दान	विशेष वक्तव्य ।
वैशाखमें महाविषुव संक्रान्ति	सत्तू और जलपूर्ण घट का दान, प्रपा (पानीय शाला) स्थापन और पितृगणका श्राद्ध ।	प्रायः सर्वत्र प्रचलित है । बंगालमें दान संक्रान्ति, जल संक्रान्ति और धर्मघट व्रतका इस दिनसे आरम्भ होता है । सभामें लक्ष्मीनारायणकी पूजा होती है । इसके अतिरिक्त मिष्ठसंक्रान्ति, दाडिमसंक्रान्ति, मधुसंक्रान्ति, पयोसंक्रान्ति, आदि स्त्रियोंके चलाये हुए अनेक व्रतोंका आरम्भ भी इसी दिन होता है । इनमें विष्णुकी प्रसन्नताके लिये दानमात्र किया जाता है, किसी प्रकारकी पूजाकी विधि नहीं है । दाक्षिणात्यमें ध्यान संक्रान्ति, लवणसंक्रान्ति, भोगसंक्रान्ति, अशोक संक्रान्ति (व्यतीपातयुक्त होनेसे) आयु संक्रान्ति और धनसंक्रान्ति व्रत होते हैं । इन सब व्रतोंमें सूर्यकी पूजा व दान आदि किया जाता है । प्रपास्थापन अर्थात् जलसत्रका स्थापन प्रधानतः वैशाखसे आरम्भ होने पर भी शास्त्रके मतसे उसका समय शिवरात्रिके दिनसे लेकर वर्षाके आगमन पर्यन्त है । जहां पास कोई जलाशय नहीं है ऐसे ही स्थान पर जलसत्र स्थापन करना चाहिये । चौराहे पर हो जलसत्र स्थापन करनेका अच्छा स्थान होता है । इस संक्रान्तिमें मट्ठा, लस्सी पंना शर्बत, सलवण तक्र (मट्ठा) पान आदि अथवा केवल जल देना होता है ब्राह्मणके लिये चिन्हित कर पृथक् पात्र रखनेकी व्यवस्था है ।
ज्येष्ठमें विष्णुपदी संक्रान्ति	स्नानदान आदि	इस दिन प्रधानतः गोदानकी व्यवस्था है । दाक्षिणात्यमें इसका अधिकतर चलन है ।
आषाढमें षडशीति संक्रान्ति	,,	इसदिन प्रधानतः वस्त्र अन्न आदि देनेकी ही विधि है, दाक्षिणात्यमें ही इसका अधिकतर चलन है ।
श्रावणमें दक्षिणायन संक्रान्ति	,,	इस दिन घृत धेनु आदिका दान किया जाता है । इस प्रकारके दानका चलन दाक्षिणात्यमें ही कुछ अधिक है । यहां इस संक्रान्तिके दिन धान्यसंक्रान्तिव्रत नामक एक व्रतका आरंभ होता है ।

भाद्रमें विष्णुपदी संक्रान्ति	,,	इस दिन प्रधानतः दाक्षिणात्यमें छत्र सुवर्ण आदिका दान किया जाता है।
आश्विनमें षडशीति संक्रान्ति	,,	इस दिन गृह वस्त्र आदिके दानकी ही प्रधानता है। दाक्षिणात्यमें ही अधिकतासे इसका चलन है।
कार्त्तिकमें जलविषुव संक्रान्ति	,,	इस दिन तिल दुग्ध आदिका दान किया जाता है। दाक्षिणात्यमें इस प्रकारके दानका अधिक चलन है। वहां इस संक्रान्तिसे भी धान्यसंक्रान्ति व्रतका आरम्भ किया जाता है।
अग्रहायणमें विष्णुपदी संक्रान्ति	,,	प्रधानतः दाक्षिणात्यमें इस दिन दीपदान आदि कृत्य होता है। बंगालमें इस संक्रान्तिके दिन कार्त्तिकेय व्रत और पूजा, अक्षसंक्रान्ति व्रत तथा सर्वजया व्रत किया जाता है। अक्षसंक्रान्ति व्रतमें लक्ष्मीनारायण का और सर्वजयाव्रतमें गौरीका पूजन होता है।
पौषमें षडशीति संक्रान्ति	,,	वस्त्र दान आदि देनेकी विधि है, दाक्षिणात्यमें ही इसका अधिक चलन है।
माघमें उत्तरायण संक्रान्ति	,,	प्रधानतः दाक्षिणात्यमें तिलधेनु एवं शीतनाशके लिये काष्ठ दिया जाता है। बंगालमें इस दिन एवं अनेक स्थलोंमें इस दिनसे आरंभकर जबतक मकरराशिमें सूर्य रहते हैं तब तक शीतनिवारक वस्त्र दान करनेकी रीति प्रचलित है। धान्यसंक्रान्ति व्रतका आरम्भ इस संक्रान्तिसे भी होता है। दाक्षिणात्यमें देवकी व विष्णुकी प्रीतिके लिये नवनीतसहित दही और मथानी दान करनेका चलन है।
फाल्गुनमें विष्णुपदी संक्रान्ति	,,	गऊको तृण और जल खिलाया पिलाया जाता है। दाक्षिणात्यमें ही इसका अधिक चलन है।
चैत्रमें षडशीति संक्रान्ति	,,	प्रधानतः दाक्षिणात्यमें भूमि माल्य आदि देनेका नियम है।

वारकृत्य ।

वार	व्रत	विशेष वक्तव्य ।
रविवार	रविवारव्रत	भविष्य पुराणमें वशिष्ठ और मान्धाताका सम्वादहै। उसमें इस व्रतकी विधिका वर्णन है। इस व्रत में बारह महीनोंमें बारह सूर्योंके नामसे उनकी पूजा की जाती है। व्रत करनेवालेको भिन्न २ मासमें भिन्न २ प्रकारके भोजन करनेका नियम है। इस वारमें अनेक व्रत करनेकी विधि है। उनमें आशादित्यव्रत और दान फल व्रतके अतिरिक्त अन्य सब प्रचलित हैं। कुष्ठव्याधि शान्त करनेकी कामनासे बारह महीने तक प्रति रविवारको आशादित्य व्रत किया जाता है। ऊपर लिखे दोनों व्रतोंका चलन दाक्षिणात्यमें ही अधिक है।
सोमवार	सोमव्रत	इसका वर्णन स्कन्दपुराणमें है। चौदह वर्ष पर्यन्त प्रति सोमवारको व्रत कर उमामहेश्वरकी पूजा करनी होती है। श्रावण, चैत्र वैशाख, कार्तिक और अग्रहायण मासके प्रथम सोमवारके अथवा चाहे जिस मासके चाहे जिस सोमवारसे इसका आरंभ करनेकी विधि है। इसमें सावित्री सत्यवान्के उपाख्यानके समान स्कन्दपुराणोक्त सीमन्तिनी चित्राङ्गदका उपाख्यान सुनना होता है। "एकभक्त सोमवार"का आरम्भ चैत्रमास की अष्टमीको जो सोमवार पड़ता है उससे किया जाता है। दाक्षिणात्यमें ही इसका चलन है। सोमव्रत, सोमाष्टमीव्रत आदि वार-तिथि योगके कई एक व्रत इस समय अप्रचलित हैं।
मङ्गलवार	मङ्गलव्रत	मङ्गलचण्डीकी पूजा होती है। ऋणमुक्तिकी कामनावाले लोग और पुत्रार्थी, धनार्थी व्यक्ति मङ्गलग्रह का भी पूजन करते हैं।
बुधवार	राजराजेश्वर व्रत	स्वातीनक्षत्रयुक्त अष्टमी बुधवारके दिन होनेसे यह व्रत किया जाता है। इस व्रतमें महादेवजीकी पूजा की जाती है। इस समय यह व्रत अप्रचलित है। इसके अतिरिक्त बुधग्रहसम्बन्धीय कोई व्रत नहीं है।

वृहस्पति वार	नरसिंहत्रयोदशी	त्रयोदशीके दिन वृहस्पति वार होनेसे यह व्रत होता है। इस व्रतमें नृसिंहजीकी पूजा होती है। पूर्णिमाके दिन वृहस्पति वार होनेसे उस दिन ईशानव्रत किया जाता है। यह व्रत इस समय अप्रचलित है। भाद्र, पौष और चैत्रके शुक्लपक्षमें वृहस्पतिके दिन लक्ष्मीपूजा होती है।
शुक्रवार	शुक्रवार व्रत	श्रावणमासके शुक्रवारोंमें वरलक्ष्मीव्रत होता है। अष्टमी या चतुर्दशीके दिन शुक्रवार और श्रवणा नक्षत्र होनेसे महाव्रत होता है और उसमें महादेवजीकी पूजा होती है। यह व्रत इस समय अप्रचलित है।
शनिवार	शनिवार व्रत	श्रावणमासके शनिवारोंमें किया जाता है। शुक्लपक्षकी अष्टमी या चतुर्दशी तिथिको रेवती नक्षत्र होने उस दिन विश्वरूपव्रत किया जाता है। यह व्रत इस समय अप्रचलित है।

इन सब व्रतोंको छोड़ कर अक्षया, मन्वन्तरा, युगाद्या (१) आदि एवं दशहरा योग (२), वारुणी योग (३), महाज्येष्ठयोग (४), अर्द्धोदययोग (५), चूड़ामणियोग (६) आदि अनेकानेक योगोंमें महाफलकी कामनासे गङ्गास्नान करनेकी विधि है। हिन्दूमात्र इस विधिको मानते हैं। ब्रह्मपुत्र करतोया (७) आदिमें भी स्नान करना सर्वत्र हिन्दू लोगोंके लिये मान्य है।

इति।

(१) अक्षया-वैशाखशुक्ला तृतीया, सोमवती अमावास्या, रविवारयुक्त सप्तमी और मङ्गलयुक्त चतुर्थी।

मन्वन्तरा-ज्येष्ठ, आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुणकी पूर्णिमा, श्रावणके कृष्णापक्षकी अष्टमी, भाद्र और चैत्रके शुक्लपक्षकी तृतीया, आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिकशुक्ला द्वादशी, पौषशुक्ला एकादशी, माघशुक्ला सप्तमी व फाल्गुणी अमावास्या।

युगाद्या-वैशाखशुक्ला तृतीया, कार्तिकशुक्ला नवमी, भाद्रकृष्णा त्रयोदशी और माघी पूर्णिमा।

(२) ज्येष्ठशुक्ला दशमीको दशहरा योग होता है। इस दिन गङ्गास्नान करनेसे दश प्रकारके पापोंका क्षय होता है। इस दिन हस्त नक्षत्र होनेसे और भी विशेषता होती है। इस दशमीको मङ्गलवार और हस्त नक्षत्र होनेसे भगीरथदशहरा होता है।

(३) चैत्रकृष्णा त्रयोदशीको वारुणी होती है। शतभिषा नक्षत्र भी होनेसे महावारुणी होती है और शनिवार, शतभिषा नक्षत्र एवं शुभयोग होनेसे महामहावारुणी होती है।

(४) ज्येष्ठा नक्षत्रमें गुरुचन्द्रयोग होनेसे, रविवारको रोहिणी नक्षत्र होनेसे, ज्येष्ठकी पूर्णिमाको गुरुवार होनेसे, चन्द्रवारको ज्येष्ठा नक्षत्र होनेसे, गुरुवारको अनुराधा नक्षत्र होनेसे, रविवारको कृत्तिका नक्षत्र होनेसे, अनुराधा नक्षत्रमें गुरुचन्द्रयोग होनेसे महाज्येष्ठयोग होता है। ज्येष्ठकी पूर्णिमा और ज्येष्ठनामकवर्षमें ज्येष्ठानक्षत्रयुक्त पूर्णिमा होनेसे महाज्येष्ठी योग होता है।

(५) पौष अथवा माघ मासकी अमावास्या, व्यतीपात योग, रविवार और श्रवण नक्षत्र-इन सबका संयोग होनेसे अर्द्धोदययोग होता है। दिनको ही उक्त योग होनेसे शुभ होता है।

(६) रविवारको सूर्यग्रहण अथवा सोमवारको चन्द्रग्रहण होनेसे चूड़ामणि योग होता है।

ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षकी द्वादशीको ज्येष्ठा वा मूल नक्षत्र होने पर उस दिन यमुनाजलमें स्नान, विष्णुदर्शन और पितृगणको पिण्डदान करने आदिकी विधि है।

चैत्रके शुक्लपक्षकी अष्टमीको बुधवार और पुनर्वसु नक्षत्र होने पर ब्रह्मपुत्रनदमें स्नान करनेका विशेष माहात्म्य कहा गया है।

(७) सौर पौषमासके सोमवारको मूलनक्षत्रयुक्त अमावास्या होनेसे नारायणी योग होता है। इसी योगके समय करतोया नदीमें स्नान करना चाहिये।